समर्पण

जिनकी स्नेहपूर्ण ममता ने लेखक के जीवन को दिशा

प्रदान की है। जिनके आशा-पुष्पों में लेखक को

भी स्थान प्राप्त था और जिन्हें इस

पुस्तक को पाकर सबसे बड़ी

प्रसन्नता होती—उन

(ग्राम-पहितियापुर, जिला—जौनपुर, उत्तर प्रदेश निवासी)

श्रद्धेय स्वर्गीय श्री राजनारायण उपाध्याय

की पुण्य स्मृति को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

पुस्तक के नाम—'भारतीय तत्वचिन्तन'—से पाठक यह न समझ लें कि इसमें भारतीय तत्त्वचिन्तन के सम्बन्ध में ब्यौरेवार विचार प्रकट किया गया है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यह नामकरण तो पुस्तक के पहले प्रकरण (निबन्ध) के नाम पर ही हुआ है। वस्तुतः इस पुस्तक में तत्वचिन्तन के अंगभूत या उसके आसपास रहने वाले, जैसे दृश्य, द्रष्टा, साध्य, साधन, श्रद्धा, विश्वास, अनुभूति, तर्क, विचार, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, यथार्थ, कल्पना आदि विषयों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। इसका प्रत्येक प्रकरण अपने मे स्वतन्त्र एक निबन्ध के रूप में लिखा गया है। यद्यपि सभी निबन्धों की एक काल्पनिक रूप रेखा सामने थी, और उन्हें एक सूत्र में गूँथने का भी लक्ष्य था, इसलिए उनमें पुनरुक्ति को रोकने का प्रयास किया गया है। किन्तु निबन्ध की पूर्णता और विषय की स्पष्टता के लिए जहाँ पुनरुक्ति की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ निःसंकोच रूप से की गई है। पाठक देखेंगे कि जहाँ किसी विषय की दुबारा चर्चा की गयी है, वहाँ केवल विषय ही दुबारा प्रस्तुत हुआ है, विश्लेषण उसके किसी अन्य पहलू पर किया गया है। फिर भी यदि कहीं इस प्रकार की त्रुटि हो तो हम उसके लिए क्षमा चाहते हैं।

पुस्तक के विषय या उसकी विश्लेषण-शैली की मौलिकता के प्रति लेखक का तनिक भी आग्रह नहीं है। वस्तुतः सारा का सारा विषय गुरुजनों द्वारा प्रतिपादित हो चुका है। यह प्रयत्न तो उसी का पिष्टपेषण मात्र है। किन्तु इसे प्रस्तुत करते समय लेखक के हृदय में एक उत्कण्ठा जाग्रत हो रही है। गुरु के प्रश्न का उत्तर देकर, विद्यार्थी यह जानने

के लिए कि मैंने ठीक उत्तर दिया है या नहीं, जिस उत्कण्ठा से गुरु की ओर निहारता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार की उत्कण्ठा मेरे हृदय में भी जाग्रत हो रही है।

जिन-जिन पुरातन एवं अर्वाचीन विद्वानों की पुस्तकों का अध्ययन मैंने किया है, उन सबके प्रभाव इसमें पड़े हैं। वस्तुत: इसमें उन्हीं की चीज है। हाँ, उन चीजों को रखने का ढंग मेरा है। इसलिए यदि विषयों का ठीक-ठीक विश्लेषण न हुआ हो तो यह हमारा दोष है, उन विद्वानों का नहीं।

इसके अधिकांश निबन्ध इसी रूप में या कुछ हेर-फेर के साथ कल्पना, अजन्ता, आजकल तथा सप्तसिन्धु आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। एतदर्थं हम इनके सम्पादकों के आभारी हैं।

यदि उत्तर प्रदेश सरकार ने कृपा करके इसके प्रकाशन के लिए ७५०) की आर्थिक सहायता न दी होती तो अभी इसके प्रकाशित होने की कोई आशा नहीं थी। एतदर्थ मैं सरकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक को इस रूप में प्रकाशित करने का सारा श्रेय हमारे मित्र श्री कुबेरनाथ मिश्र 'मनुज' को है। वे अपने हैं, इसलिए उन्हें धन्यवाद देकर भार हल्का करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पुस्तक जैसी भी बन पड़ी है, पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है, इसकी त्रुटियों की ओर वे लेखक का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके।

८ जून १९५९
१८ ज्येष्ठ शक १८८१

—व्रजभूषण पाण्डेय

विषय-सूची

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
—अथर्ववेद १०।८।४४

भारतीय तत्त्वचिन्तन

यह संसार क्या है, हम क्या हैं, तथा हमारा और इस संसार का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में तत्त्वचिन्तन की मूल धारा निहित है। यह मानव स्वभाव है कि उसके सम्पर्क में जो चीज आती है, उसे वह अच्छी तरह से जानना चाहता है। जानने की यह इच्छा ही तत्त्वचिन्तन का उदय करती है। अधिकांशतः भारतीय दर्शनों का पहला सूत्र जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है[1]। 'ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा' इस व्याख्या के अनुसार तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ जानने की इच्छा से होता है। किन्तु इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि किसी तत्त्व की पूर्णतः जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके स्वरूप का चिन्तन होता है। परन्तु इस प्रकार की जिज्ञासा का उदय क्योंकर हुआ, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न पर यद्यपि दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष रूप में विचार नहीं किया है, तथापि चिन्तन की प्रणाली तथा उसके उद्देश्य एवं स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह भली भाँति प्रकट हो जाता है कि तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा का उदय कैसे और क्योंकर हुआ। इस सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम में मतभेद है। प्लेटो और अरिस्टाटल तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा का उदय 'आश्चर्य' से मानते हैं। उनका कहना है कि "सृष्टि के विविध कार्यकलापों को देखकर व्यक्ति के अन्दर आश्चर्य का उदय होता है। इस आश्चर्य अर्थात् कुतूहल की शान्ति के लिए तत्त्वचिन्तन आगे बढ़ता है।" सृष्टि, ब्रह्म, या तत्त्वों के स्वरूप के प्रति आश्चर्य का भाव भारतीय दर्शन साहित्य में भी उपलब्ध है। किन्तु यहाँ उसे इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। भारतीय दर्शन में 'आश्चर्य' तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा के कारण रूप में नहीं आया है, अपितु तत्त्व के स्वरूप की अनुभूति में उसे

---

[1] 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' [ब्रह्मसूत्र, वेदान्त], 'अथातो धर्म जिज्ञासा' [वैशेषिक], 'अथातो धर्म जिज्ञासा' [मीमांसा]।

प्रतिष्ठित किया गया है[१]। भारतीय तत्त्वचिन्तन का कहना है कि "दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की अभिलाषा से तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है।" मनु ने सुख और दुःख की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से की है।

> सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्।
> एतद् विद्यात् समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः मनुस्मृति ४,१६०

संसार में सभी प्राणी दुःखी दिखलाई देते हैं। एक के ऊपर दूसरा शासन करना चाहता है। मात्स्य न्याय सब दुःखों का कारण है। कोई भी जीव स्वतन्त्र नहीं दिखलाई देता। परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता ही सुख। इस प्रकार समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना ही वास्तविक सुख है। परमपद का 'मुक्ति' नाम इसी अर्थ में सार्थक है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सुख की चाह तो मानव मात्र का स्वभाव है। फिर इससे तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा की उत्पत्ति भारतीयों का मौलिक अनुसन्धान नहीं है। किन्तु "सर्वं आत्मवशं सुखम्" में सुख के जिस स्वरूप का निर्धारण किया गया है, वह भारतीयों की उदात्त महनीयता को प्रकट करता है। भारत के प्राचीन महर्षियों ने प्रकृति के संसर्ग से सारा सुख भोगा, किन्तु इस सुख में भी उन्हें पदे-पदे परवशता का अनुभव हुआ। तुलसीदास ने कहा है, "हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश, विधि हाथ।" भारतीय तत्त्वचिन्तक इस

---

१ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ गीता २,२९
भगवान श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप का दर्शन देते हुये कहा है,
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ गीता ११,६
और अर्जुन ने उसे इस प्रकार देखा,
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ गीता ११,११

"विधि हाथ" को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वह नहीं चाहता कि उसके सुख में कोई बाधा पहुँचाये, अथवा किसी की दया पर उसका सुख निर्भर रहे। इसलिए उसने प्रत्येक बन्धन को, प्रत्येक विघ्न को, कि बहुना, प्रत्येक प्रभुता को छिन्न भिन्नकर अपने स्वरूप का वास्तविक विकास करना चाहा है। अपने स्वरूप की सर्वोपरि स्थापना तथा प्रत्येक प्रभुता का अन्त करना ऐसी उदात्त अभिलाषाएँ थीं, जिसने प्राचीन भारतीयों में तत्त्वचिन्तन की जिज्ञासा उत्पन्न की (मीमांसक ने जिस "स्वपद" की चाह की है, वह इसी प्रकार का है, वह ऐसे पद को चाहता है, जिसमें कण मात्र भी दुःख न हो। यही नहीं, उस सुख (पद) का अन्त भी कभी न हो तथा वह अपनी इच्छा पर निर्भर हो, न कि दूसरे की इच्छा पर[१]। इस प्रकार का पद ही स्वराज्य, मोक्ष, परमपद, अपवर्ग, मुक्ति आदि नामों से ख्यात हैं। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्ण स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा से ही भारत में तत्त्वचिन्तन का उदय हुआ है[२]। व्यक्ति में स्वतंत्र होने की अभिलाषा तभी उत्पन्न होती है, जब उसे परतन्त्रता का अनुभव होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दुःख से ऊबकर भारतीयों ने तत्त्वचिन्तन के द्वारा काल्पनिक सुख का सृजन किया है। इस आधार पर उनका कहना है कि भारतीय तत्त्वचिन्तन का उदय दुःख की स्थिति में हुआ है, इसे हम भी मानते हैं, किन्तु इस अर्थ में नहीं कि संसार में भारतीय दुःखग्रस्त ही रहे। अतः संसार से भागकर वे कल्पना-लोक में सुख की अनुभूति करते हैं। वस्तुतः अपार ऋद्धि-सिद्धि के बीच ही भारतीय तत्त्वचिन्तन का उदय होता है। भारतीय दार्शनिक दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों को वास्तविक दुःख मानता है, अभाव कोई दुःख नहीं है, उक्त तीनों दुःखों में अभाव नहीं परवशता

(१. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्, अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः पदास्पदम्॥ श्लोक वार्तिक।)

२. (यद् आभ्युदयिकं चैव, नैश्रेयसिकमेव च। सुखं साधयितुम् मार्गं दर्शयेत तद् हि दर्शनम्।)

है। जरा, मरण तथा अनित्यता को वह दु:ख मानता है। इसमें भी परवशता है। भगवान बुद्ध अतुल सम्पत्ति और ऐश्वर्य में डूबे हुए थे। इसलिए जब उन्हें वृद्ध और शव दिखलाई दिया तो इस दु:ख का निराकरण उनकी समझ में नहीं आया। मृत्यु का निराकरण कैसे हो, परवशता कैसे दूर हो, इसी का उत्तर ढूँढने के लिए गौतम घर से निकले हैं। घर से निकलते समय उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि "जब तक हम जन्म मरण के रहस्य को न जान जायेंगे, तब तक वापस न लौटेंगे[१]।" कहने का तात्पर्य यह कि दु:खत्रय से मुक्ति पाने की उत्कट इच्छा से ही तत्त्वचिंतन का उदय भारतीय दार्शनिक को मान्य है[२]।

हमारे घर में अपार सम्पत्ति भरी हुई है। किन्तु जब हमें कोई भयंकर रोग पकड़ लेता है तो वह सब बेकार हो जाती है। हम उसका उपभोग नहीं कर पाते। यह दैहिक दु:ख कौन देता है? हम बहुत परिश्रम करके अपने खेतों को शस्यादि से सम्पन्न कर देते हैं, किन्तु तुषार तथा ओलों के गिरने से सब बरबाद हो जाता है। इसी प्रकार अनेक विघ्न बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिनके कारण हम उपलब्ध सुख को अच्छी तरह नहीं भोग पाते। किं बहुना यदि हम जीवन भर निर्विघ्न सुख प्राप्त करते रहते हैं जो असम्भव है, तो भी अन्तत: मृत्यु हमें दबोच लेती है, इससे छुटकारा मिलना तो असम्भव ही है। इसलिए अमरता की कामना से तत्त्वचिन्तन की ओर प्रवृत्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह कि भारत में तत्त्वचिन्तन का उदय ऐसे दु:खों को दूर करने के लिए नहीं हुआ जो अपने वश की बात हो, अथवा अकर्मण्यता, निराशा आदि के कारण भी तत्त्वचिन्तन की ओर प्रवृत्ति हुई हो, ऐसी बात भी नहीं है। अपने वश की जितनी बात हो सकती थी, सबका सम्पादन कर चुकने पर जब अदृष्ट का बन्धन उपस्थित होने लगा

---

१ जननमरणयो अदृष्टपार. न पुन अहं कपिलाह्वय प्रवेष्टा।

२ दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ॥ सांख्य कारिका १

तो भारतीयों की स्वतन्त्रचेता बुद्धि ने इस महान दुःख अदृष्ट को भी दूर फेंकने की चेष्टा की। यह दुःख क्या है? क्या मैं इसे दूर कर सकता हूँ? इस प्रश्न का उदय होने पर स्वभावतः ही 'दुःख' और 'मैं' के स्वरूप का अनुसन्धान प्रारम्भ हो जाता है। और तत्पश्चात् 'दुःख' पर विजय प्राप्त करके अपनी स्वतन्त्रता तथा वास्तविक स्थिति का अनुभव भी होता है। भारतीय चिन्तन का यह महान प्रयत्न अकर्मण्यता नहीं, परम पुरुषार्थ की स्थिति है। धर्म, अर्थ तथा काम का अर्जन तो किंचित परिश्रम से भी सम्भव है, किन्तु मोक्ष का अर्जन सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। कठोपनिषद् २।३।१४ का भाष्य करते हुए आद्य शंकराचार्य कहते हैं। "अथ तदा मर्त्य प्रागप्रबोधात् आसीत् स प्रबोधोत्तर कालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशाद् अमृतो भवति। गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद् गमनानुपपत्तेरत्रैव प्रदीप निर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमात् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवति" कहने का तात्पर्य यह कि मृत्यु को जीतकर अजर अमर होने का प्रयत्न अकर्मण्यता नहीं है। सभी बन्धनों को तोड़ देने का प्रयत्न अकर्मण्यता नहीं है। यह मार्ग छुरे की धार है। कठोपनिषद् का प्रसिद्ध उद्बोधन भारतीय चिन्तन मार्ग की इस विशेषता का उद्घोष कर रहा है[१]

ऐतिहासिक दृष्टि से जीव की पूर्ण स्वतन्त्रता की कामना भारतीयों में कब पैदा हुई, यह नहीं बताया जा सकता। क्योंकि हमारा आदि साहित्य वेद यह बताता है कि तत्त्वचिन्तन का रूप वैदिक काल में ही बहुत आगे बढ़ चुका था। ऋग्वेद में तत्त्वचिन्तन इस स्तर पर पहुँच चुका था कि "समस्त जगत की मूलशक्ति एक ही है।" सम्भवतः एकत्व की यह भावना तत्त्वचिन्तन की पराकाष्ठा थी। पर्याप्त सुखोपभोग के पश्चात् परतन्त्रता का अनुभव और तत्पश्चात् उन्मुक्त होने की आकांक्षा से तत्त्वों की खोज हुई होगी। संसार के प्रमुख तत्त्वों का

---

१ उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत, क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ कठो० १,३,१४

वर्गीकरण और फिर उन सबमे, एक तत्त्व की स्थापना, सौ दो सौ, वर्षों के चिन्तन म सम्भव नहीं है। इतिहास बताता है कि मानव की जो भी कला, प्रवृत्ति, विज्ञान तथा जिज्ञासा पूर्णता को प्राप्त हुई है, वह चार छ हजार वर्षों के मन्थन के पश्चात् ही निष्पन्न हुई है। तत्त्वचिन्तन जैसे विज्ञान को पूर्णता प्राप्त करने में निश्चय ही पर्याप्त समय लगा होगा। इसलिए वेदों में, विशेषकर ऋग्वेद म तत्त्वचिन्तन का जो स्वरूप हमे मिलता है, वह निश्चय ही हजारो वर्षों की चिन्तना का विकसित रूप है।

एक बात और है, पश्चिम मे तत्त्वचिन्तन सहायक विद्या के रूप मे आगे बढा है। राजनीति, नीतिशास्त्र आदि के साथ ब्रह्मविद्या का भी अध्ययन वहाँ होता था, किन्तु हमारे यहाँ यह एक स्वतन्त्र विद्या के रूप म ही नहीं, अपितु सभी विद्याओ म श्रेष्ठ भी माना गया है[१]। भारतीय तत्त्वचिन्तन 'एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान सिद्धि' का आदर्श लेकर चलता है। इससे यह प्रकट होता है कि तत्त्वचिन्तन का उदय तभी होता है, जब व्यक्ति सभी विद्याओं की थाह पा जाता है। जिसके पास चार छ मोटरें हैं, उसे खाने पहनने की कमी है, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसी प्रकार जिस जाति ने ब्रह्मविद्या म प्रवेश पा लिया है, उसने अन्य विद्याओं को अछूता छोड दिया है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। सभी विद्याओं को हस्तगत कर लेने के बाद ही तत्त्वचिन्तन अर्थात् अध्यात्मविद्या के उपार्जन की उत्कट अभिलाषा किसी समाज मे उत्पन्न होती है। इसलिए जो ससार की समस्त विद्याओं क रहस्य को जान लेता है, भारतीय चिन्तन क्षेत्र में प्रवेश करने का वही उत्तम अधिकारी है। छान्दोग्य उपनिषद म आया है कि जब सनत्कुमार से नारद ने ब्रह्मविद्या की याचना की तो सनत् ने कहा कि तुम जितना जान चुके हो, उसे बताओ तो उससे आगे की विद्या का उपदेश तुम्हे दूँ। इस पर नारद ने निवेदन किया।

---

१ प्रदीप सर्व विद्यानामुपाय सर्व कर्मणाम्,
आश्रय सर्वधर्माणा शाश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ कौ० अर्थ० १,२
अध्यात्मविद्याविद्याना वाद प्रवदतामहम् ॥गीता १०, ३२

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं चतुर्थं, इतिहास पुराणं पंचमं, वेदाना वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाको वाक्यं, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्र विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्पदेवजन विद्या, एतद् भगवोऽध्येमि ।

वस्तुतः वास्तविक तत्त्वचिन्तन का उदय ऐसी ही स्थिति में हो सकता है। पुस्तक के रूप में अथवा लौकिक विद्या के रूप में ब्रह्म विद्या का उपार्जन नहीं होता है। यह तो अन्तरात्मा की उस ज्योति से उत्पन्न होती है, जिसे पूर्ण स्वतंत्रता की कामना रूपी अग्नि प्रज्वलित करती है। वेदकालीन तत्त्वचिन्तन का रूप यह बतलाता है कि न केवल अनुसन्धान के क्षेत्र में ही, अपितु अनुभूति के क्षेत्र में भी तत्त्वचिन्तन पूर्ण हो चुका था। उपनिषद्काल में उसी तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उपनिषद्काल में तत्त्व की खोज नहीं, उसके स्वरूप की व्याख्या और निर्धारण हुआ है। खोज तो वेदों में ही पूरी हो गई है। इसलिए हम वेदकाल को तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भिक काल नहीं, पूर्णता का काल मानते हैं। तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया में श्रुति को जो महत्त्व दिया गया है, वह इसी ओर संकेत करता है।[१] इस आधार पर, यह बतलाना कि भारतीय तत्त्वचिन्तन का उदय कब हुआ, सहज नहीं है।

वेदों में यद्यपि तत्कालीन भारतीय स्थिति का अधिकांश चित्र मिलता है। तथापि वे प्रधानतया आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। इनमें आर्यों की चिन्तना ही अधिक मुखर है। ऋग्वेद के नासदीय, पुरुष, हिरण्यगर्भ तथा अस्यवामीय सूक्तों के आधार पर ही दर्शन की अनेक शाखाएं आगे चलकर भारत की दार्शनिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों के आधार

१. श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः, मत्वा तु सततं ध्येयः, एते दर्शन हेतवः ।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते, एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्
वेदस्य वेदता ॥ सायण ऋग् भा० भू०,
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ मनु० २,१३

ऋग्वेद के ये विभिन्न सूक्त ही हैं। ऋग्वेद में स्पष्टतः ही यह स्वीकार किया गया है कि समस्त संसार में एक ही तत्त्व व्याप्त है। एक ही तत्त्व बहुत होकर इस संसार में प्रतिभासित हो रहा है। वह ही इस जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। सृष्टि के प्रारंभ में केवल एक तत्त्व था। उसने ही अपनी इच्छा से इस संसार की रचना की है और वह इसी में व्याप्त है। प्रलय के अन्त में संसार उसी में लीन हो जायगा[1]। उस समय पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन आदि पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और एक अव्यक्त, अनिर्वचनीय सत्ता ही स्थित रहती है[2]। इस सत्ता को ही कोई अग्नि, कोई यम, कोई इन्द्र इत्यादि नामों से पुकारता है[3]। उपनिषदों ने इसी तत्त्व को ब्रह्म कहकर स्पष्ट किया है। यही नहीं, 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो'[4]। इस परम ज्ञान का साक्षात्कार भी औपनिषद ऋषियों ने किया है। जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात् अभिन्नता का प्रतिपादन करके आत्मा को ही ज्ञेय बताया है[5]। ऋग्वेद के स्वर के साथ ही साथ उपनिषद् भी सृष्टि तत्त्व, ब्रह्मतत्त्व इत्यादि की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। उपनिषदों का कहना है कि यह आत्मा ही सुनने, देखने तथा मनन करने के योग्य है। इसे जानकर सभी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है तथा व्यक्ति, मृत्यु को जीतकर अमर हो जाता है। अद्वैत तत्त्व की स्थापना उपनिषदों की अपनी विशेषता है। उपनिषद की दृष्टि में यही दुःख तथा मृत्यु

---

१ य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥ ऋ० १०,८१, २

२ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० १० १२९,१।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ,
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास १०,१२९, २

३ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ,ऋ० १,१६४,६

४ 'तत्त्वमसि'

५ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यश्च ॥

को प्राप्त होता है, जो भेद दृष्टि को प्रश्रय देता है'। भेद-दृष्टि की निन्दा से उपनिषदों का कलेवर भरा हुआ है। वस्तुतः वेदों के गूढतम मन्त्रों में चिन्तन की जो अपार राशि निहित थी। उपनिषदों ने उसे ही परिष्कृत करके जन जीवन में प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन भारतीय चिन्तकों का वर्ग वैदिक सृष्टि क्रम को समझाने की ओर विशेष सजग दिखलाई देता है² । अनेक रूपकों द्वारा वैदिक सृष्टि क्रम को समझाने का प्रयत्न किया गया है³। व्याख्यात्मक तात्त्विक विवेचन उपनिषदों की मुख्य विशेषता है।

वस्तुतः उपनिषत्काल में विचार-पद्धति का स्वरूप अधिक तार्किक हो गया है। यद्यपि वेदकाल में पूर्वपक्ष की स्थापना करके उसे खंडित करने की शैली पाई जाती है⁴। तथापि उपनिषदों का-सा ऊहापोह तथा उत्कृष्ट तर्कप्रणाली वेदों में नहीं है। इसका कारण यही हो सकता है कि वैदिक काल में वेद विरुद्ध विचारों का प्रभाव बहुत ही न्यून था। उपनिषद् काल में पूर्वपक्ष की स्थापना बहुत सुदृढ हो गई है। इसीलिए सभी उपनिषद् पूरी शक्ति से अनेक सुदृढ पूर्वपक्षों का निराकरण करते हैं। किन्तु पूर्व और उत्तर दोनों पक्षों की समान महत्ता होने के कारण वैदिक विचारधारा का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों त्यों पूर्वपक्ष भी विकसित होता रहता है। इस सिद्धान्त पर भारत का द्वादश दर्शन उपनिषदों की ही विभिन्न विचार-पद्धतियों की शाखायें हैं। उपनिषद् साहित्य बहुत ही

---

१ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। कठ० २,१,१०।
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। कठ० २,१,११।

२ स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥
स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनो अन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च। प्रश्नो० ६,४।

३ स यथेमा नद्यः इत्यादि। प्रश्नो० ६, ६, ५

४ य ईमा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २,१२,५

विशाल साहित्य है। इनकी कुल संख्या का ठीक ठीक पता नहीं चलता किन्तु १०८ उपनिषद मुख्य माने गए हैं[1]। उपनिषद शब्दकी व्याख्या करते हुए कठोपनिषद् के उपोद्घात मे आद्य शंकराचार्य कहते हैं

ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णा सन्त उपनिषच्छब्द वाच्या वक्ष्यमाणलक्षणा विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्तितेषाम विद्यादे संसार बीजस्य विशरणाद्विसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपपनिषदित्युच्यते ॥

आचार्य के इस कथन का समर्थन कठोपनिषद करता है[2]। कहने का तात्पर्य यह कि उपनिषद साहित्य भारतीय अध्यात्मविद्या का वह दुर्ग है, जहाँ आत्मतत्त्व, ब्रह्म तत्त्व, तथा सृष्टि तत्त्व का विचित्र सामञ्जस्य मूर्त हो गया है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय तत्त्व-चिन्तन के विकास का स्वरूप एक वटवृक्ष के समान है। जिसकी जड़ें वेदभूमि पर प्रतिष्ठित हैं। उपनिषद उसका तना है और बादके द्वादश दर्शन उसकी विभिन्न शाखाए है। इस प्रकार के विकास-क्रम मे इस दृष्टि का कोई मूल्य नही है कि वेदोंका चिन्तन बाल चिन्तन था, अथवा वैदिक काल का भारतीय तत्त्व ज्ञान अपरिपक्व अथवा, प्रारम्भिक ज्ञान था।

उपनिषदों की चिन्तना का प्रभाव जीवन के और क्षेत्रों पर भी पड़ा है। भारतीय चिन्तन की यह विशेषता रही है कि वह अपने तत्त्वों की स्थापना जीवन मे भी करता चलता है। इसके फलस्वरूप ही इन दूसरी प्रवृत्तियो और उद्देश्यों पर भी दार्शनिक विचारधारा की छाप लग गई है। उस समय का इतिहास महाभारत, अनेक दार्शनिक विचारों का संग्रह है। गीता तो भारतीय तत्त्वचिन्तन का हीरा है। किन्तु गीता की समस्त

---

१ सर्वोपनिषदां मध्ये सारम् अष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥ मुक्तिकोपनिषद् १, ४४।

२ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्, अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते १, ३, १५।

है और नास्तिक विचारधारा अलग फैल जाती है। उपनिषद् काल में जो तर्क प्रणाली सिद्धान्तों के निर्धारण के लिए स्वीकृत हो चुकी थी, वह भी सूत्र काल में स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में विकसित हो जाती है[1]। यद्यपि तर्कप्रणाली का सम्मान सभी ने किया है[2]। तथापि आस्तिक और नास्तिक दोनों धाराओं ने इसे दो रूपों में ग्रहण किया है। आस्तिक विचारधारा, चिन्तन-परम्परा को परिष्कृत तथा पुष्ट बनाने के लिये न्याय का सहारा लेती है। वह पद वाक्य के समर्थक तर्क को मान्यता देती है[3]। किन्तु नास्तिक विचारधारा तर्क की प्रखरधारा में श्रुतिसम्मत सिद्धान्त को फेंक देने में तनिक भी कोर-कसर नहीं रखती। इसका फल यह हुआ कि तर्कों के जाल को छिन्न भिन्न करने के लिये आस्तिक तत्त्वचिन्तक अत्यन्त गम्भीर तथा अनुभूति परक विचारों के अवगाहन में जुट गये। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि तर्क की उच्छृङ्खलता को रोकने के लिये ही मीमांसादर्शन का उदय हुआ है। कुछ भी हो, तर्कबहुल नास्तिक दर्शनों के आघातका फल यह हुआ कि भारतीय जीवन में तात्त्विक चिन्तना हर क्षेत्र में फैल गई।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। भारतीय चिन्तना में साधनभूत ज्ञान, भक्ति और कर्म, बारी बारी से किसी समय प्रमुख हो जाते हैं। वैदिककाल में कर्म की प्रधानता रही और उपनिषद काल में ज्ञानमार्ग प्रमुख बना रहा, सूत्रकाल के बाद जब भाष्य, निबन्ध अथवा व्याख्याओं का युग आता है तो साधनों की विभिन्नता के कारण ही एक दर्शन में कई शाखाएँ फूट जाती हैं। अकेले वेदान्त में ही ज्ञान और उपासना भेद के कारण दर्जन के लगभग शाखाएँ फूट

---

१ न्याय दर्शन।

२ आर्षं धर्मोपदेशं च वेद शास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेदनेतरः ॥ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥ मनु १२,१०६

३. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते। वाक्यप्रदीप ॥ १, ३४।

जाती हैं। इनमें छः तो बहुत प्रमुख हैं[1]। यही दशा प्रायः प्रत्येक दर्शनों की रही। निबन्धकाल[2] भारतीय तत्त्वचिन्तन के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखता है। वस्तुतः चिन्तन की उर्वर भूमि पर बोया हुआ विचार—बीज, इन्हीं दिनों पुष्पों और फलों से लद जाता है। जब सूत्रों का निर्माण हुआ था तो उपनिषद, गीता अथवा इतिहास पुराणों में बिखरे हुए सिद्धान्त चिन्तकों के स्मृतिपटल पर बहुत ही स्पष्ट थे। एक सूत्र को देखने ही उससे सम्बन्धित समस्त विचारसरणि आलोकित हो जाती थी। किन्तु काल पाकर यह स्मृति नष्ट होने लगी। इसी समय भाष्यकारों का उदय होता है। सूत्रों के भाष्य में वे सूत्रार्थ का तात्पर्य श्रुति वर्णनों के साथ मिलाकर सामञ्जस्य स्थापित करने लगे। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि नास्तिक विचारधारा की गहरी चोट पाकर ही भाष्यों अथवा निबन्धों का श्रीगणेश होता है। बौद्धों की प्रखर तथा गूढ़ तर्कप्रणाली और उदात्त आदर्शों का प्रभाव भारतीय चिन्तन की धारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता है। इनकी स्वतन्त्र चिन्तना का प्रभाव आस्तिक विचारकों पर भी पड़ा। इसलिए विशेष विचार धारा का अनुगमन करते हुए भी स्वतन्त्र चिन्तन इस काल के चिन्तकों की प्रमुख विशेषता है। इस विशेषता के कारण भी मतमतान्तरों की अपार सृष्टि हुई। वस्तुतः इस काल के विचारक अपने विचारों को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिये न्याय, मीमांसा इत्यादि का आश्रय लेते हैं, सिद्धान्त तथा विचारों की उत्पत्ति उनकी निजी होती थी। विद्वत्ता, प्रतिभा एवं चिन्तना के सहारे उन निजी सिद्धान्तों एवं विचारों को वे श्रुतिसम्मत घोषित करते थे। वेदान्तदर्शन की सभी शाखाएँ प्रस्थानत्रयी[3] को अपना आधार मानती हैं। इस सम्बन्ध में विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक भाष्यकार

---

१ अद्वैत (शंकर) विशिष्टाद्वैत, (रामानुज), शुद्धाद्वैत, (वल्लभ), द्वैताद्वैत, (निम्बार्क), द्वैत (मध्व) अचिन्त्यभेदाभेद (चैतन्य)।

२ यह काल ७०० विक्रमी से लेकर १५०० विक्रमी तक माना जाता है। इसमें ही वृत्ति, भाष्य, व्याख्या और निबन्धों की रचना अधिक हुई है।

३ ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता।

रामानुज के द्वारा रचित 'वेदान्तदीप' का उपोद्घात दर्शनीय है। उसका एक अंश इस प्रकार है।

> स एव परमात्मा स्थूल चिदचिद्वस्तु शरीरः कार्यमिति कारणावस्थाया कार्यावस्थाया च चिदचिद्वस्तु शरीरकतया तत्प्रकारः परमात्मैव सर्व-शब्द वाच्य इति परमात्मशब्देन सर्वशब्द समानाधिकरण्यमुख्यमेवो पपन्नतरम् अनेन जीवात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि
> तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् इत्यादि श्रुतिरेवेममर्थमुपपादयति।"

ऐसा लगता है कि भाष्यकार का विचार श्रुति के पीछे नहीं चल रहा है। बल्कि श्रुतियाँ भाष्यकार के विचारों का अनुगमन कर रही हैं।

ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) पर शंकर और रामानुज का भाष्य अपनी अपनी जगह पर बेजोड़ है। इनमें दोनों विचारकों की स्वतन्त्र दार्शनिक विचारसरणि का मनोरम ताना-बाना दिखलाई देता है। आस्तिक दर्शनों का अगुवा वेदान्त है और नास्तिक दर्शनों का प्रधान बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन भारत का बहुत ही लोकप्रिय और उदार दर्शन है। वस्तुतः नास्तिक दर्शन तीन ही हैं[१]। बौद्ध-दर्शन के ही चार भाग अलग-अलग स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विकसित हो गए हैं[२]। इन चारों के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन इस श्लोक में मिलता है।

> मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
> योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
> अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
> प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।

बौद्धों का शून्यवाद अथवा क्षणिकवाद प्रसिद्ध विचारसरणि है। इस प्रकार भारतीय भूमि पर वैदिक और अवैदिक दोनों विचारधाराओं का

१. चार्वाक, जैन और बौद्ध।

२. माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक।

समान प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिस समय दोनों धाराएँ लोक-जीवन की भूमि पर उतर कर नाना रूपों में प्रवाहित होने लगती हैं, उस समय अनेक छोटे मोटे विचार-बिन्दु बिखर कर स्वतन्त्ररूप में विकसित हो गए। इन्हें पूर्णतः न तो वैदिक कहा जा सकता है और न पूर्णतः अवैदिक ही। वस्तुतः विचारधाराओं के संघर्ष तथा संयोजन के फलस्वरूप ही ऐसे दर्शनों का उदय हुआ है। इनमें कुछ तो शुद्ध तात्त्विक न होकर व्यावहारिक अधिक हो गए हैं। दर्शन और धर्म में अद्भुत ऐक्य होने के कारण अनेक धार्मिक तथा साम्प्रदायिक मतमतान्तरों के अपने दर्शन हैं। व्याकरण, साहित्य आदि प्रवृत्तियाँ भी दार्शनिक विचारों से अछूती नहीं हैं। मानव की आदिम प्रवृत्तियाँ तथा योग एवं मीमांसा का आंशिक प्रभाव भी कुछ अलग विचारों की सृष्टि करता है। इस प्रकार बहुत से अवान्तर विचार भी स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विकसित हो गए हैं। तन्त्रों को मिलाकर इनकी कुल संख्या लगभग दस है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय तत्त्वचिन्तन की विकास-परम्परा बहुत ही उदात्त तथा विशाल है। पाश्चात्य दर्शन की भी अपनी महत्ता है, किन्तु न केवल चिन्तन की अनुभूति में ही, अपितु और अनेक बातों में भी भारतीय दर्शन बहुत आगे बढ़ा हुआ है।

भारतीय तत्त्वचिन्तन की सबसे प्रमुख विशेषता है यह कि वह लोकजीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ चलता है। लोक मर्यादा की रक्षा भारतीय विचारकों का अपूर्व गुण है। यही कारण है कि भारत में धर्म, तत्त्वचिन्तन का अंग बना हुआ है। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन के साथ भी 'एथिक्स' (नीतिशास्त्र) लगा हुआ है, किन्तु 'एथिक्स' और धर्म में बहुत अन्तर है। यही कारण है। कि भारतीय चिन्तन लोक-जीवन की भूमि पर पल्लवित और पुष्पित हुई है। किन्तु इसके साथ ही लोक के प्रति अनासक्ति का भाव भी प्रतिष्ठित है। भोग में योग भारतीय

१ त्रिपुरासिद्धान्त, त्रिक सिद्धान्त, शैव सिद्धान्त, वीर शैव सिद्धान्त, रसेश्वर दर्शन, व्याकरण दर्शन, पाशुपत मत, वैष्णव तन्त्र, शाक्त तन्त्र तथा शैवतन्त्र।

दर्शन की अपनी देन है। हमारे यहाँ का दार्शनिक, लोक-व्यवहारशून्य पागल नहीं होता है। वह शासन चला सकता है और सुदृढ नेतृत्व वहन करता है। 'अहमेव ब्रह्म' की अनुभूति में मग्न रहने वाला चिन्तक भी गुरु के समक्ष नतमस्तक हो जाता है। वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा, ऋषि भी यजमान के लिए घोड़ा हाथी माँगते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि लोक-जीवन की सुखरता को किंचित भी क्षति पहुँचाने वाला विचार भारतीय दर्शन में स्थान नहीं पा सकता। मायावादी शंकर और शून्यवादी अथवा क्षणिकवादी बौद्धों की जीवनचर्या लोक जीवन का आदर्श है।

भारतीय तत्त्वचिन्तन की दूसरी विशेषता यह है कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक तथा उन्मुक्त है। अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक चलने वाले इस सृष्टि व्यापार का तात्त्विक विवेचन इसकी अपनी विशेषता है। यद्यपि सभी दर्शनों में सृष्टि-तत्त्व का विवेचन होता है। तथापि भारतीय सृष्टि-तत्त्व का रूप अधिक विशाल एवं गम्भीर है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व तथा ब्रह्म तत्त्व की व्याख्या भी बहुत उदार तथा व्यापक है। तीनों तत्त्वों का एकीकरण भारतीयों की सूक्ष्म विवेचन शैली की विशेषता है। धर्म के साथ मिल जाने के कारण मानवीय जीवन के कण-कण में प्रवेश करके भारतीय दर्शन, बहुत व्यापक तथा सजीव हो जाता है। इतनी व्यापकता होते हुए भी विचारशैली बहुत ही संयत एवं स्पष्ट चलती है। विचार स्वातन्त्र्य का अपूर्व महत्व स्वीकार करते हुए भी भारतीय चिन्तकों ने उच्छृङ्खलता को फटकने नहीं दिया है। यही कारण है कि तत्त्वों की व्याख्या बहुत सुलझी हुई है। पाश्चात्य दर्शन की शैली गाठदार है, उसकी अनेक गुत्थियाँ उलझी हुई हैं। जैसे जड-तत्त्व और चेतन तत्त्व का पारस्परिक सम्बन्ध पाश्चात्य दर्शन में बहुत उलझा हुआ है। इस गाठ को खोलने का प्रयत्न सार्कोट और प्लेटो ने किया है, तथापि वह पूर्णतः नहीं खुल सकी है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय दर्शन की विचार शैली, सिद्धान्त एवं तत्त्वों को बहुत ही स्पष्ट रीति से निर्णीत करती है। इसका कारण यह है कि चिन्तना से प्राप्त तत्त्वों को अनुभूति एवं विचार की कसौटी पर कसकर

ही मान्यता दी जाती है। किन्तु इसके साथ ही विचार-विनिमय एवं बुद्धि-हृदय के द्वारा ऊहा पोह करने में वह बहुत ही तीक्ष्ण एवं दृढ़ है। शैली के सम्बन्ध में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की एक ही मान्यता है। इसीलिए वाद के द्वारा चिन्तना की धारा को अधिक वेगवती बनाने का प्रयत्न यहा सतत होता रहा है। किन्तु ऐसे वाद को ही मान्यता दी गई है, जो तत्त्व बोध का अनुगामी हो। वितंडा की निन्दा सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से की है।

इसके साथ ही साध्य के सम्बन्ध में भी भारतीय दर्शन एक मत हैं। दुःखाभाव ही सबका लक्ष्य है। यद्यपि कुछेक ने आनन्द शून्य दुःखाभाव को ही माना है। तथापि अधिकाश का चरमलक्ष्य आनन्दमय है। अनुभूति, विचार, धर्म एवं लोक-जीवन का सम्पर्क पाकर भारतीय चिन्तना ने सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की पूर्ण प्रतिष्ठा की है।

> स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्।
> आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्
> मह्यम् दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्...अथर्व ०१ ६. ७८. १

दृश्य और द्रष्टा

दार्शनिक भाषा में दृश्य का अर्थ केवल आँखों से देखा जाने वाला विषय ही नहीं है, अपितु अपनी सभी इन्द्रियों से हम जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, वह सभी दृश्य के अन्तर्गत आता है। यही नहीं, कुछ ऐसे भी विषय हैं, जिन्हें मन इन्द्रियों के माध्यम से नहीं, अपितु स्वयं ग्रहण करता है, वे सभी दृश्य के अन्तर्गत हैं। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेय का समानार्थी द्रष्टा और दृश्य भी है, भेद केवल इतना ही है कि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले 'ज्ञान' नामक एक पृथक तत्त्व की कल्पना भी हम करते हैं, किन्तु ज्ञान का समानार्थी तत्त्व दृश्य में ही अन्तर्निहित है। प्रस्तुत प्रकरण में हम द्रष्टा और दृश्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर तो विचार करेंगे ही, साथ ही इन दोनों के स्वरूप पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते फिरते हर समय हम अपने आस-पास, अपने से पृथक किसी दूसरे तत्त्व, पदार्थ विषय या वस्तु का अस्तित्व पाते हैं। यह पृथक् प्रतिभासित होने वाला तत्त्व बहुत विशाल, अगम्य, अनन्त और रहस्यपूर्ण लगता है। हमारे मन, बुद्धि, अहंकार की पहुँच जहाँ तक है, वहा तक यह फैला दिखलाई देता है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में इसका भान हमें होता है। इसे ही हम दृश्य कहते हैं। इस दृश्य का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर हम सामान्य रूप से विचार नहीं करते। इसमें से किन्हीं या किसी अंश विशेष से हम कभी-कभी अपने सम्बन्ध की थोड़ी बहुत अनुभूति कर लेते हैं। किन्तु शेष को 'दुनिया है' कहकर उपेक्षित करते रहते हैं। किन्तु जब कभी हम इस वातावरण से नितान्त भिन्न किसी दूसरे वातावरण में चले जाते हैं, तो इस वातावरण की एक नगण्य सी भी वस्तु पर हमारा ध्यान चला जाता है। जेल में पड़े हुए कैदी को बाहर का

वह जनरव भी बड़ा प्रिय लगता है, जिस पर पहले उसने ममत्व का भाव ही नहीं स्थापित किया था। वीरान जंगल में भटके हुए पथिक को मैदान की पगडंडी का वियोग भी असह्य हो उठता है। कहते हैं, जब तक कोई वस्तु हमारे समीप रहती है, तब तक उसका वास्तविक महत्त्व हमें नहीं ज्ञात होता। किन्तु जब वह दूर चली जाती है, तो उसके एक-एक गुण पर हम घंटों मुग्ध रहते हैं। बात यह है कि महत्त्व का प्रकाशक प्रतिद्वन्द्वी ही होता है। भाव के महत्त्व को अभाव प्रकाशित करता है। सुख की महत्ता दुःख ही बताता है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारा यह समझना कि हम जिस वातावरण में रह रहे हैं, उसकी प्रत्येक बात से हमारा कोई मतलब नहीं, केवल कुछ खास बातें ही अपने मतलब की हैं, भ्रम मात्र है। दृश्य का कण-कण द्रष्टा से अटूट सम्बन्ध रखता है, यह एक नितान्त सत्य सिद्धान्त है। किन्तु यहां विचारणीय यह है कि जब पूरा वातावरण हमारे ऊपर समान रूप से प्रभाव डाल रहा है, तो क्यों कोई वस्तु हमें प्रभावकर प्रतीत होती है और क्यों कोई वस्तु अप्रभावकर अतएव उपेक्षणीय लगती है। यही नहीं, हमें यह भी जानने की इच्छा होती है कि जिस दृश्य पदार्थ को हम अपने सम्पर्क में नहीं लाना चाहते या जिसके अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान भी हमें नहीं रहता, वह भी हमें क्यों और कैसे प्रभावित करता रहता है। हमारे ऊपर किसी वस्तु का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहे, और हमें उस वस्तु की या उसके प्रभाव की जानकारी भी न हो, यह कितने आश्चर्य की बात है। कुछ काल तक किसी कारण वश हम इससे भले ही बेखबर रहें, किन्तु प्रभाव डालने वाली वस्तु की नितान्त अनभिज्ञता सहज में समझ में नहीं आती।

एक बात और है, जिस वातावरण में आप रहते हैं, उसी में मैं भी रहता हूँ। एक ही दृश्य पदार्थ का सान्निध्य आप और मुझे दोनों को प्राप्त है। किन्तु दृश्य की अनेक वस्तुएँ हम पर जैसा प्रभाव डालती हैं, वैसा आप पर नहीं डालतीं। अनुभूति की न्यूनता और तीव्रता की बात मैं नहीं कर रहा हूँ, बल्कि नितान्त विरुद्ध प्रभाव

कैसे घटित हो जाता है ! चेतन को जाने दें, पर क्या जड़ पदार्थ भी भेद भाव करने की क्षमता रखते हैं ! वर्षा की रिमझिम फुहार आपके हृदय में आनन्द की हिलोरें पैदा करती है, और वही मुझे एक अज्ञात टीस की सिहरन से भर देती है। इसका क्या रहस्य है ? एक अभिनेता का एक ही अभिनय आपको असाधारण-सा प्रतीत होता है और मुझे उसमें कोई नवीनता या कौशल नहीं दिखाई देता। इस प्रकार की अनेक विरोधी बातों पर जब हम विचार करते हैं, तो हम यह निश्चय करने में असमर्थ हो जाते हैं कि दृश्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ! उसका कोई भाग किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, यह निश्चय रूप से कहना हमारे लिए कठिन हो जाता है। जो वायु और धूप हमारे जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है, वही अनेक जलचरों के जीवन का घातक सिद्ध हो जाती है। जिसे हम अन्धकार कहते हैं और जो हमारी चक्षु की शक्ति को बाधित कर देता है, वही अन्धकार कुछ जीवों का प्रकाश है। हमारा प्रकाश उनकी चक्षु को निष्क्रिय कर देता है और हमारा अन्धकार उन्हें प्रकाश देता है। फिर हम एक तटस्थ दृष्टि से किसे अन्धकार कहें और किसे प्रकाश, इसका ठीक-ठीक निर्णय हम नहीं कर पाते। इस प्रकार समस्त दृश्य जगत को हम यदि एक तटस्थ निरीक्षक की दृष्टि से देखें तो उसमें कोई सामान्य प्रभाव, विभाजन या गुण देख पाना हमारे लिए कठिन हो जायगा। तो फिर यह दृश्य क्या है, कैसा है, है या नहीं आदि प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त किए बिना द्रष्टा के साथ उसके वास्तविक सम्बन्ध पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ सकता।

दृश्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त शंकाएँ उठने के पश्चात द्रष्टा के सम्बन्ध में भी अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। ऊपर यह कहा गया है कि दृश्य से पृथक् द्रष्टा का अस्तित्व नहीं मिलता। दृश्य से शून्य 'अहं' की चर्चा की जा सकती है, कल्पना की जा सकती है, किन्तु अभी

तक ऐसे 'अहं' की अनुभूति किसी को हुई नहीं। यदि किसी को हुई भी हो तो वह हमारे विवेचन का विषय नहीं बन सकता। तो फिर क्या द्रष्टा भी इस दृश्य का ही एक भाग है? आप भी द्रष्टा हैं और मैं भी द्रष्टा हूँ। किन्तु आपके लिये मैं दृश्य हूँ और हमारे लिए आप। तो फिर तटस्थ दृष्टि से वास्तविक द्रष्टा किसे कहा जाय। यदि अनेक द्रष्टा मान लें तो दृश्य का वास्तविक रूप निश्चय करने में कठिनाई पड़ती है। क्योंकि आपके दृश्य का स्वरूप मेरे दृश्य के स्वरूप से भिन्न होता है। अतएव दृश्य के वास्तविक स्वरूप के निर्धारण के लिए यथार्थ द्रष्टा की खोज आवश्यक हो जाती है। हमें ऐसा लगता है कि यथार्थ द्रष्टा वही हो सकता है, जिसकी दृश्य से पृथक सत्ता हो, किन्तु हम और आप दृश्य से पृथक नहीं हैं। बल्कि दृश्य के अंग विशेष ही हैं। तो फिर क्या यह मान लिया जाय कि द्रष्टा कोई है ही नहीं। किन्तु ऐसा मान लेने पर तो दृश्य का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार दृश्य के बिना द्रष्टा की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार द्रष्टा के बिना दृश्य का भी कोई अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इस प्रकार तो द्रष्टा और दृश्य कुछ भी नहीं हैं, यह मान लेने के लिये हमें बाध्य होना पड़ता है, जिससे हमारा निजका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। इसे स्वीकार करनेके लिए हम किसी भी प्रकार तैयार नहीं हो सकते। 'मैं' का अस्तित्व तो हम किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते। जब 'मैं' है, तो उसकी अनुभूति में आने वाला यह तत्त्व, दृश्य हो या द्रष्टा, कुछ है जरूर।

'मैं' इतना स्पष्ट और सत्य है कि उसके अस्तित्व के विरुद्ध हम कोई भी तर्क, प्रमाण या उदाहरण स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। वस्तुतः दुनिया में निर्भ्रान्त और अविचल भाव से यदि हम कि ी का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो वह यह 'मैं' ही है। 'मैं' का अस्तित्व मान लेने पर यह भी मान लेना पड़ता है कि एक अलग

तत्त्व भी है, जिसकी अनुभूति 'मैं' को दृश्य रूप में होती है। किन्तु ऊपर के विवेचन म जो आपत्तियां उठायी गयी है, उनसे दृश्य और द्रष्टा का रूप उलझ जाता है। मैं दृश्य हूँ या द्रष्टा, जिसे 'मैं' दृश्य रूप मे अनुभव करता है, वह दृश्य है या द्रष्टा, इसका निर्णय हम नहीं कर पाते।

हमारा अन्त करण किस प्रकार दृश्य को ग्रहण करता है, इस पर यदि हम थोडा विचार कर ले, तो दृश्य के स्वरूप पर कुछ अधिक प्रकाश पड जायगा। इन्द्रियों के माध्यम से अन्त करण पहले दृश्य का स्वरूप मात्र ग्रहण करता है। दर्शन की भाषा म इसे 'सवित्' और मनोवैज्ञानिक भाषा म 'शुद्ध सवेदन' कहते हैं। इस प्रकार का 'शुद्ध सवेदन' बहुत छोटे बच्चो को ही होता है। जैसे ही हम 'सवित्', को 'अहं' का विषय बना लेते हैं, अर्थात् जब उस सवित् के साथ हम अपना कोई सम्बन्ध जोड़ने लगते हैं तो अपने अन्त करण की पूरी छाप उस पर छोड़ देते हैं। इसलिए वह शुद्धसवित् या सवेदना नहीं रह जाता है। कहते हैं, किसी विदेशी यात्री ने भारत की 'गुडकी भेली' को देखकर उसे फल समझ लिया था। उसे गुड की भेली का सवित् हुआ, और यह खाने की चीज है, इस जानकारी से मिलाकर उसे वह फल समझ लेता है। कहने का तात्पर्य यह कि सवित् तो शुद्ध स्वरूप का ही होता है किन्तु हमारा 'अहं' उसके साथ जब अपना सम्बन्ध स्थापित करने लगता है, अर्थात् यह हमारे किस काम की है, इसका हमारे साथ क्या सम्बन्ध है, इत्यादि भावों का उदय जब अन्त करण म होने लगता है, तो अन्त करण के सस्कार, रुचि आदि के अनुसार वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। हम सभी का अन्त-करण समान नहीं है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को हम अलग अलग स्वरूप दे देते हैं। कभी कभी वस्तु का शुद्ध सवित् भी नहीं होता। इसके दो कारण है। दूर की चीजें हम छोटी दिखलाई देती हैं। अधेरे म लाल वस्तु काली जान पड़ती है। इस प्रकार बाह्य अवरोधक

इन्द्रियों की ग्राहकता में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। दूसरा कारण यह है कि कभी कभी इन्द्रिया ही दोषयुक्त हो जाती हैं। वैसी अवस्था में कुछ का कुछ संवित् होने लगता है। पीलिया के रोगी को सफेद चीज पीली दिखलाई देती है। जुकाम में नासिका की गन्धग्राहकता मारी जाती है। और भी बहुत कारण हैं, जिनसे वस्तु का शुद्ध संवित् ग्रहण करने में बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दृश्य का जो स्वरूप हम ग्रहण करते हैं वह वास्तविक नहीं है। संवित् शुद्ध क्यो न हो, हमारा अंहकार उसे अपने रंग मे रंग देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दृश्य के स्वरूप में हमारे अन्तःकरण का स्वरूप इतना ओत-प्रोत होता है कि दृश्य के वास्तविक स्वरूप को समझना सरल नहीं है। ठीक ऐसा ही भ्रम हमें वस्तुओं के रंग के सम्बन्ध में होता है। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई वस्तु काली, पीली, नीली, आदि रंगों की नहीं होती। सभी रंग सूर्य के हैं। सूर्य की सभी रंग की किरणें वस्तुओं पर समान रूप से पड़ती हैं। किन्तु वस्तुओं का यह गुण है कि वह सभी रंग की किरणों को प्रायः आत्मसात् नहीं कर पातीं। जिस रंग की किरणों को वस्तु ग्रहण नहीं कर पाती, वह रंग ऊपर ही रह जाता है और हम वस्तु को उस रंग का घोषित कर देते हैं। लाल रंग की चीजें सभी रंग की किरणों को पचा लेती हैं, किन्तु लाल रंग की किरणों को ऊपर ही छोड़ देती हैं, इसलिए उन्हें हम लाल देखते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्तुओं का अपना रंग नहीं है। तो, कल्पना कीजिए कि वस्तुओं का वास्तविक रंग क्या होगा? जैसे यह बात कल्पनातीत है, अतर्क्य है। उसी प्रकार जब वस्तुओं के स्वरूप में हमारे अन्तः-करण का स्वरूप ओत प्रोत हो जाता है, तो उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बताना हमारे लिये असम्भव हो जाता है। समस्त दृश्य से यदि हम अपने अन्तःकरण की माया को समेट सकें तो फिर वास्तविक स्वरूप की झाकी हमें मिल सकती है।

एक बात और है। अन्त करण का माया हट जाने पर भी वस्तु का जो शुद्ध सवित्, हमें होगा, उसे भी हम वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें हमारी इन्द्रियों की योग्यता, अयोग्यता, शक्ति, असमर्थता आदि भी निहित है। ध्रुवों के पास के निवासी भूमध्य रेखा के समीप जितनी गर्मी का अनुभव करेंगे, उतनी गर्मी वहाँ के मूल निवासियों को नहीं मालूम पड़ेगी। गहरे पानी में रहने वाली मछलियाँ हजारों टन पानी का बोझा अपने ऊपर लिए रहती हैं। हम अपने शरीर पर कई मन वायु ढोते रहते हैं। किन्तु न तो मछली ही किसी बोझा का अनुभव करती है और न हम ही। इस प्रकार यह प्रकट हो जाता है कि हमारी इन्द्रियों की बनावट का भी प्रभाव दृश्य पर पड़ रहा है। तो दृश्य के शुद्ध रूप का ज्ञान तभी हो सकता है, जब अहं की माया ही नहीं, इन्द्रियों की माया भी उसके ऊपर से हट जाय। अहं की माया हट जाने पर तो हमें दृश्य का सवित् होगा, किन्तु इन्द्रियों की माया हट जाने पर क्या दृश्य का सवित्, सम्भव है? सम्भवतः नहीं। तो फिर क्या यह दृश्य जगत मिथ्या है? मूल रूप में यह दृश्य मिथ्या है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, कुछ है जरूर, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतीयमान दृश्य वास्तविक नहीं है।

प्रतीयमान दृश्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दात्मक रूप में प्रतीत होता है। यह सभी हमारी इन्द्रियों की देन है। यदि हमें श्रवणेन्द्रिय न मिली होती तो दृश्य के स्वरूप में शब्द का भाव हमें न होता। यदि कोई छठीं ज्ञानेन्द्रिय हो जाय, तो सम्भव है, दृश्य के किसी और भाग की कल्पना हम कर लें। भावात्मक दृष्टि से प्रतीयमान दृश्य को हम सुखात्मक और दुःखात्मक दो रूपों में देखते हैं। यह हमारे अहंकार की देन है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दृश्य का प्रतीयमान स्वरूप हमारा ही स्वरूप है। अब हम यदि अपने अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप पर थोड़ा विचार कर लें तो स्थिति विशेष स्पष्ट हो जायगी।

ऊपर हमने यह कहा था कि 'मैं' की सत्ता बहुत ही स्पष्ट है। वह

अपने अस्तित्व का स्वय प्रमाण है । अन्य प्रमाणों की अपेक्षा उसे नहीं है। किन्तु यदि गम्भीर दृष्टि से हम 'मैं' को खोजने लगते हैं तो वह सहसा पकड़ मे नहीं आता । हम साधारणत: कहा करते हैं कि 'मेरा शरीर, मेरा चित्त, मेरे हाथ, पैर आदि' किन्तु यह 'मैं' कौन है जो शरीर, मन, तथा इन्द्रियों को अपना बतलाता है । इसकी खोज हम करने चलते हैं तो बीच मे ही उलझ जाते हैं । मैं अपनी आँखों से देखता हूँ, मैं अपनी बुद्धि से सोचता हूँ, मैं चलता हूँ, खाता हूँ, आदि व्यवहारों की जो अनुभूति होती है, वह किसे होती है । मन, बुद्धि, आदि को तो ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिये । क्योंकि यह सब तो अनुभूति के साधन हैं। इन साधनों का उचित प्रयोग करने वाला तथा इन्हें अपना बतलाने वाला कोई तत्त्व ही वास्तविक अनुभूति करता है। किन्तु मन, बुद्धि, अहकार आदि से पृथक इनसे बलशाली किसी अन्य तत्त्व के अस्तित्त्व का कोई पुष्ट प्रमाण सहसा नहीं दिखलाई देता। इसीलिए कुछ विचारक इनकी समष्टि को ही 'मैं' का रूप मान लेते हैं। कोई कोई प्रवहमान चित्त को, विज्ञान को 'मैं' का रूप मानते हैं। किन्तु ऐसा मानने में अनेक अड़चनें उपस्थित हो जाती हैं। यह सिद्धान्त स्वय अनुभव का भी विरोधी है । एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। कभी-कभी हम कहते हैं कि 'मैं' बदल रहा हूँ । इसका क्या तात्पर्य है? मैं मानता हूँ कि यह भाषा का गलत प्रयोग है। इसे इस प्रकार कहा जाना चाहिये कि 'मेरे स्वभाव, शरीर, गुण आदि में परिवर्तन हो रहा है। क्योंकि परिवर्तन इन्हीं मे सम्भव है। 'मैं' मे परिवर्तन सम्भव नहीं है। परिवर्तन का अर्थ होता है, एक के स्थान पर दूसरे का आ जाना। शरीर पतले से मोटा हो गया । बुरे स्वभाव के स्थान पर अच्छा स्वभाव आ गया, अथवा दया के स्थान पर क्रोध आ गया। इस प्रकार के परिवर्तन को हम परिवर्तन कहते हैं । यदि 'मैं' का परिवर्तन मान लिया जाय तो एक 'मैं' के स्थान पर दूसरा 'मैं' आ गया। इसकी जानकारी किसे मिली, कौन है, इसका साक्षी । 'मैं' तो इसका साक्षी

नहीं हो सकता। तो फिर 'मैं' बदल रहा हूँ। इस प्रकार के प्रयोग का अर्थ क्या हुआ? स्पष्ट है कि यह गलत प्रयोग है। जैसा कि अभी मैंने कहा, हम अपने इन्द्रियों या चित्तादि के परिवर्तनों को भ्रम से 'मैं' का परिवर्तन कह देते हैं।

मैं की स्थिति सर्वदा एकरस और अक्षुण्ण रहती है। 'मैं' अपने क्रोधाविष्ट और दयाविष्ट दोनों चित्तों को जानता है। वह अपने अनमने और प्रफुल्ल दोनों मनों को पहचानता है। 'मैं' अपने शरीर की जवानी और बचपन दोनों को जानता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैं' जो वास्तविक द्रष्टा है। भोक्ता और ज्ञाता है, वह इन्द्रियादिकों से पृथक, अलग तत्त्व है। इन्द्रियादिकों की समष्टि 'मैं' नहीं है। अन्यथा, किसी इन्द्रिय के नष्ट होने पर 'मैं' की स्वरूपानुभूति में कुछ अभाव दिखलाई देता। किन्तु ऐसा होता नहीं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि मन, बुद्धि, अहंकार, शरीर तथा इन्द्रियों से परे 'मैं' तत्त्व की सत्ता है। किन्तु वह कौन है? क्या है? इत्यादि जानकारी सहज में नहीं मिलती। उसकी सत्ता को हृदयंगम करने के लिये हमें 'मैं' की अनुभूति पर सूक्ष्म विचार करना होगा।

ऊपर हमने देखा है कि दृश्य का शुद्धरूप हमें नहीं उपलब्ध होता। ठीक उसी प्रकार 'मैं' के शुद्धरूप की अनुभूति हमें नहीं होती। तमाशा तो यह कि जिन अवरोधक तत्त्वों ने दृश्य के वास्तविक रूप को आच्छादित कर लिया है, वे ही 'मैं' को भी आच्छादित किए हुए हैं। मैं खाता हूँ, सोता हूँ, सोचता हूँ, देखता हूँ, चलता हूँ, रोता हूँ, हँसता हूँ, आदि रूपों में हमें जिस 'मैं' की अनुभूति होती है, वह हमारे अन्तः करण—चित्त—का परिवेष्टित रूप होता है। जिन क्रियाओं, व्यवहारों अथवा स्थितियों के माध्यम से 'मैं' की अनुभूति होती है, वह सब हमारे चित्त की ही विकृति है। उनके बीच में 'मैं' का जो रूप उपलब्ध होता है, वह उन जैसा ही प्रतीत होता है। इसीलिये जो 'मैं' का धर्म नहीं है, उसका भी आरोप हम उस पर कर देते हैं। चित्त दुःखी हुआ तो मुझे

लगा कि 'मैं' दुःखी हूँ। किन्तु वस्तुतः 'मैं' दुःखी और सुखी नहीं होता। इस बात को ठीक तरह से तभी समझा जा सकता है, जब 'मैं' चित्त की कारा से पूर्णतः मुक्त हो जाय। सुषुप्ति की स्थिति का विश्लेषण कर किंचित् अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि उस समय इन्द्रियां चित्त में अस्थायी रूप से विलीन हो जाती हैं और चित्त आत्मा में। यह आत्मा वही है, जिसे अब तक 'मैं' कहा गया है। सुषुप्ति में 'मैं' ज्यों का त्यों रहता है। हां, उसपर से चित्त का नियन्त्रण थोड़ा हट जाता है या यों कहें कि चित्त की सक्रियता स्थगित हो जाती है। इस समय भी शब्द होते हैं, दुनिया की हलचलें होती रहती हैं, किन्तु 'मैं' को इन सबकी अनुभूति नहीं होती। भूखा आदमी सो जाता है, तो भूख गायब हो जाता है। यह सम्भव है कि जल्दी उसे नींद न लगे, किन्तु नींद लग जाने पर भूख गायब हो जाता है। विरहिणी जब गाढ़ी निद्रा में सो जाती है तो सारा विरह काफ़ूर हो जाता है। सो जाने पर राजा, रंक दोनों ही की स्थिति समान हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि रोना, हँसना, खाना, पीना, सुखी दुःखी होना आत्मा का नहीं, चित्त का धर्म है। यदि यह आत्मा का धर्म होता तो सुषुप्ति काल में भी इनका अस्तित्व पाया जाता। क्योंकि सुषुप्ति काल में भी आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यद्यपि इस अवस्था में भी निरुपाधि आत्मा सम्भव नहीं है।

चित्त के समस्त कार्यकलापों को हम ज्ञान, सङ्कल्प और क्रिया इन तीन भागों में बांट सकते हैं। इसी को दार्शनिक भाषा में ज्ञानृत्व शक्ति, सङ्कल्प शक्ति और कर्त्तृत्व शक्ति कहते हैं। चित्त की यह तीनों वृत्तियां आत्मा को आच्छादित किये रहती हैं। चित्त पर आत्मा का प्रतिबिम्ब बराबर पड़ा रहता है। इसलिये यह चेतन सा लगता है। वस्तुतः चित्त की तीनों शक्तियां भी आत्मा से ही प्राप्त होती हैं। इसलिये चित्त और आत्मा में हमें स्थूल भेद नहीं परिलक्षित होता। आत्मा की शक्ति ही इन्द्रि होकर चित्त रूप में प्रस्फुटित होती है। इसीलिये आत्मा और चित्त एक

ही में ओत-प्रोत रहते हैं। चित्त की गति का पूर्णतः निरोध करके ही आत्मस्वरूप का, शुद्ध 'मैं' का, द्रष्टा का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार जो बात दृश्य के सम्बन्ध में निश्चित हुई थी, वही बात द्रष्टा के सम्बन्ध में भी निश्चित हो जाती है। अर्थात् एक ही प्रकार के अवरोधक तत्त्व से दृश्य और द्रष्टा दोनों का स्वरूप आच्छादित है। इसलिए यह अवरोधक तत्त्व क्या है, इसे समझने की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रकरण में इस तत्त्व पर विश्लेषण नहीं किया जायेगा, किन्तु संक्षिप्त प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

यदि हम इस अवरोधक तत्त्व को दृश्य और द्रष्टा पर से हटाकर देखें तो वास्तव में इसकी कोई सत्ता नहीं रहती। इसकी सत्ता भी तभी तक प्रतीत होती है, जब तक दृश्य और द्रष्टा का वास्तविक रूप सामने नहीं आता। आत्म प्रकाश के सामने यह तत्त्व उसी प्रकार लोप हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से प्रातःकालीन धुआँसा कोहिरा। इसीलिये विचारकों ने इसकी पारमार्थिक सत्ता न मानकर इसे अविद्या, माया, भ्रम इत्यादि नामों से सम्बोधित किया है। समीप जाने पर मृगमरीचिका स्वयं नष्ट हो जाती है। यह चित्त जो माया का प्रतिनिधि है, स्वरूप ज्ञान हो जाने पर कपूर की डली की तरह उड़ जाता है। साधना द्वारा, योग द्वारा जब चित्त निरुद्ध कर दिया जाता है, उसे पंगु बना दिया जाता है। तो स्वरूप ज्ञान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

समस्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हुईं . . .पहली यह कि प्रतीयमान विश्व, दृश्य वास्तविक नहीं है। यह मिथ्या है, किन्तु कुछ है जरूर, जिसमें यह दृश्य प्रतीत हो रहा है। दूसरी बात यह स्पष्ट हुई कि द्रष्टा का प्रतीयमान स्वरूप भी वास्तविक नहीं है, किन्तु कुछ है जरूर, जिसमें द्रष्टा का प्रतीयमान स्वरूप प्रतिष्ठित है। इसका तात्पर्य यह निकला कि जिस दृश्य और द्रष्टा को लेकर हमने अपनी विवेचना प्रारम्भ की थी, उस रूप में दृश्य और द्रष्टा वास्तविक नहीं है। हाँ, दोनों के स्थान पर एक तत्त्व है जरूर, जिसे न तो हम दृश्य कह सकते हैं और न द्रष्टा। इन पर कोई किसी प्रकार का भी विशेषण लागू नहीं होता। मिथ्या,

प्रतीयमान विश्व, मिथ्या प्रतीयमान द्रष्टा का स्वरूप था। इसलिये मूल दृश्य, मूल द्रष्टा का स्वरूप है। दोनों एक ही तत्त्व हैं। अविद्या एक ही तत्त्व को दो भागों में विभाजित कर द्रष्टा और दृश्य की रचना करती है। अविद्या के गायब होते ही द्रष्टा और दृश्य दोनों गायब हो जाते हैं। जो वस्तुतः था, वही रह जाता है और है भी। इसी बात को भारतीय दार्शनिक ने इस प्रकार घोषित किया है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥

जीवन और दर्शन

हमारा जीवन ही एक साधना है। सारे विश्व का लक्ष्य एक है और समस्त साधनों का एक ही साध्य है। किन्तु अज्ञान तथा परिस्थितियों के वशीभूत होकर हम सब विभिन्न साधनों के सहारे अपनी साधना पर बढ़ रहे हैं। जीवन का परम साध्य क्या है? अथवा यह समस्त सृष्टि किस एक ही तत्व को खोजने में व्यस्त है? यह प्रश्न कोई नया नहीं है। किन्तु कुछ थोड़े ही लोग इस पर विचार करने की चेष्टा करते हैं। शेष सारा विश्व उनके विचारों का ही अनुगामी होकर चलता है। दार्शनिकों की बुद्धि इसी प्रश्न को लेकर सृष्टि के कण-कण का रहस्योद्घाटन करती है और उसमें से किसी या किन्हीं तत्त्वों की पारमार्थिक सत्ता सिद्ध करके उसे या उन्हें साध्य बनाती है। हम सबकी प्राय यह धारणा बन गई है कि दार्शनिकों की यह खोज हमारे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती। आचार्य शंकर के मायावाद या मिथ्यावादी सिद्धान्त से हमारी इस धारणा को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला है। यह सच है कि आचार्य शंकर का ऐसा कुछ उद्देश्य नहीं था, किन्तु उनकी सृष्टि सम्बन्धी व्याख्याओं का जो प्रभाव पड़ा, उससे हम दार्शनिक विचार-सरणि और जीवन की लौकिक समस्याओं में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं देख पाते हैं। उनकी व्यावहारिक एवं पारमार्थिक ये दो सीमाएँ भी हमारे इस कथन की साक्षी हैं। किन्तु इसमें वास्तविकता नहीं है। दर्शन सम्बन्धी अन्वेषण या उसकी व्याख्याएँ जीवन पथ को व्यवस्थित करने एवं उसे ठीक लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायक होती हैं और उनकी उपयोगिता भी इसी में है। दर्शन की मान्यताएँ, चाहे वे केवल पारमार्थिक हों या मूलतः व्यावहारिक, हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए ही हैं। जिस दर्शन का व्यावहारिक

जीवन में कोई महत्व नहीं है या जो केवल पारमार्थिक है, वह वैयक्तिक साधना का विषय हो सकता है, सृष्टि के लिए उसका कोई मूल्य नहीं है। वह दर्शन ही क्या, जो समष्टि की साधना को पल्लवित एवं विकसित न कर सके। यह कहना कि गुण दोषमय संसार की सीमा में रहकर हम साधना नहीं कर सकते या सृष्टि के व्यावहारिक पथ में रमता हुआ व्यक्ति सृष्टि के चरम सत्य की साधना कैसे कर सकता है, कथनमात्र है। ऐसा कहने वाला दर्शन अपनी ही न्यूनता को विज्ञापित करता है। दर्शन की विचार-पद्धति या उसकी आधार शिला यह सृष्टि ही है। स्थूल सृष्टि को बिल्कुल अलग रखकर कोई दार्शनिक विचार एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर यदि हमारी सारी खोज, इस सृष्टि के ही आधार पर आगे बढ़ती है, तो क्या कारण है कि उस खोज का परिणाम एक दूसरे ही लोक में जाकर निकलता है। हमारे इस कथन में आचार्य शङ्कर के विचारों की उपेक्षा नहीं है। हमारा विरोध उनसे है, जो दर्शन को व्यावहारिक जीवन से अलग मानते हैं या जो दर्शन को व्यावहारिक जीवन में कुछ भी उपयोगी नहीं समझते।

समस्त सृष्टि में एक व्याकुलता सी दिखलाई देती है। उसमें निरन्तर एक विचित्र-सी अपूर्णता का अनुभव होता रहता है। उस अपूर्णता या अभाव को दूर करने की चेष्टा में ही सारा जगत व्याकुल है। समष्टि की यह विकलता ही सृष्टि की गति है। सृष्टि में किस तत्त्व की कमी है, या कौन सा तत्त्व उसे विकल बना रहा है, इसका सही-सही अन्वेषण दर्शन का एक लक्ष्य है। उसका दूसरा और चरम लक्ष्य है, उस तत्त्व की प्राप्ति का साधन प्रस्तुत करना। किसी भी दार्शनिक पद्धति में ये दोनों लक्ष्य स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। तत्त्व और साधन के स्वरूप के सम्बन्ध में विश्व के प्रायः सभी महान् दार्शनिकों में मतभेद है। उनका यह मतभेद उनकी पद्धति में ही प्रकट हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि विचार-पद्धति की विभिन्नता के ही कारण उनमें तात्त्विक मतभेद उत्पन्न हो जाता है। और तात्त्विक मतभेद के ही कारण उसे आत

करने के साधनों में भी विभिन्नता आ जाती है। किन्तु इन सबकी विचार-पद्धति में एक समता भी है। 'संसार अपूर्ण है, समस्त सृष्टि किसी अज्ञात तत्त्व के लिए तड़प रही है, उस अज्ञात तत्त्व की प्राप्ति के लिए एक व्यवस्थित साधना-पथ की आवश्यकता है, तत्त्व प्राप्ति की यह साधना इस सांसारिक शरीर में ही सम्भव है।' कोई भी दार्शनिक इन सब बातों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कोई उपेक्षा भी कैसे कर सकता है, जबकि इन्हीं बातों पर दार्शनिक विचार आधारित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन की उत्पत्ति और उसका विकास सृष्टि के ही रहस्यों का उद्घाटन है। दर्शन की चरम परिणिति भी सृष्टि की चरम परिणिति है। सृष्टि से परे दर्शन का कोई पदार्थ नहीं है। इसीलिए ब्रह्म को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण मानकर अनेक दार्शनिकों ने अपने दर्शन की मूल खोज को ही सृष्टि के रूप में देखा है।[१] उपनिषदों ने इस तथ्य को बार-बार स्पष्ट किया है, और सूत्रकारने 'जनमाद्यस्य यतः' के द्वारा इसी मान्यता का समर्थन किया है। इसी का अनुसरण करते हुए तुलसी भी सियाराममय जग को प्रणाम करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसी धारणा बना लेना या इस प्रकार की मान्यता का प्रचार करना कि दर्शन का जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा दर्शन हमारे व्यावहारिक जीवन में कोई काम नहीं दे सकता, तथ्य से परे है। महर्षियों की साधना, चिन्तकों के विचार, किम्बहुना, जगत के सभी प्रयत्न, जगत मूलक हैं और वे सभी जगत को ही पूर्ण एवं अभावरहित बनाने तथा नियम पूर्वक संचालित करने में ही सचेष्ट रहते हैं।

१. एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलोनिर्गुणश्च॥ : श्वेता०, ६, ११ : एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ मा० उ० ६॥ यतो वा इमानि भूतानिजायन्ते, येनजातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्, ब्रह्मेति॥ तै० उ०, ३,१॥

सृष्टि क्या खोज रही है ? उसमें इतनी हलचल क्यों है ? दर्शन में इस प्रश्न को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ठीक भी है, ऊपर से देखने में हम सबके क्रिया-कलाप बिलकुल अलग अलग हैं। कोई व्यापार करता है तो कोई नौकरी, कोई विद्याध्ययन करता है तो कोई ज्ञानका अर्जन किन्तु इन सबका उद्देश्य एक है। सभी सुख चाहते हैं, संसार की हलचल का यही मुख्य हेतु है। सुख क्या है ? इस प्रश्न को थोड़ी देर के लिये अलग रख दें तो हम सब इस बात से पूर्ण सहमत हो जायेंगे कि समस्त विश्व सुख चाहता है और उसकी समस्त हलचल, उसकी निरन्तर प्रवहमान गति, एकमात्र सुख की ही खोज में लगी हुई है किन्तु यह भी स्पष्ट है कि अभी तक विश्व को वह सुख प्राप्त नहीं हो सका है। अन्यथा उसकी गति रुक जाती और उसकी समस्त हलचल शून्य हो जाती। यही नहीं, अभी तक इसका भी निर्णय नहीं हो पाया है कि सुख कैसे मिलेगा, नहीं तो अब तक यह प्रयत्नशील विश्व कभी का सुखी हो गया होता। हो सकता है कि किन्हीं व्यक्तियों को यह ज्ञात हो गया हो कि सुख प्राप्त करने का अमुक मार्ग है और वे उस पर चलकर सुखी हो भी गये हों, किन्तु यह विश्व तो अभी उस पथ से सर्वदा वंचित ही है। दर्शन इस पथ को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करता है और यह घोषित करता है कि उसका अवसान 'आनन्दस्वरूप'[1] है। दर्शन उस परमानन्द की प्राप्ति का ही एकमात्र विधायक है, जिसके लिए हम अहर्निशि क्रियाशील रहते हैं। इस तरह दर्शन किसी पारलौकिक पथ का निदर्शक नहीं है, अपितु विश्व के ही वास्तविक पथ की खोज का प्रयत्न है। हम कैसे सुखी हों, यह जो अनिवार्य तथा व्यापक प्रश्न हमारी समष्टि की भावनाओं में समान रूप से निरन्तर वर्तमान है,

[1] आनन्दमयोऽभ्यासात्। ब्रह्मसूत्र,१,१,१२॥ रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति॥ तै० उ० २,७॥ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥ तै० उ० ३,६॥ राम सहज आनन्द निधानू। तुलसी॥ तुम बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेहीं॥ तुलसी।

इसका ही उत्तर ढूँढने का प्रयत्न दर्शन का विषय है। इसीलिए वह हमारे वैयक्तिक जीवन म भी महत्त्व रखता है।

सुख की समस्या विश्व, राष्ट्र तथा समाज एव उसके प्रत्येक अग क सामने तो है ही, हमारे, आपके तथा एक छोटे से बच्चे के सामने भी उसी रूप म है। पशु पक्षी, कीट-पतग भी इस समस्या से परेशान हैं। कदाचित कोई और समस्या ऐसी नहा है जिसके सबन्ध में इतना सुदृढ ऐक्य हो। इस समस्या का इसलिये भी अधिक महत्त्व है कि यह अनेकत्व से एकत्व की ओर बढती है। ससार की अनक समस्याए ऐसी हैं, जिनका समष्टि के लिए महत्त्व है, इसलिये व्यक्तिगत जीवन म भी उनका महत्त्व माना जाता है। कि-तु सुख खोज की समस्या हर एक के लिये अपनी है, इसलिये समष्टि के लिये उसका महत्व है। विश्व म आज जो अनेक सामूहिक समस्याए हैं, वे प्राय समष्टि से व्यक्ति की ओर बढती हैं। इसलिये उन समस्याओं के हल का जो प्रयत्न होता है, उसका प्रभाव पहले समष्टि पर पड़ता है फिर बहुत आगे बढने पर व्यक्तिगत जीवन म वह दिखलाई देता है। और सुख-खोज की समस्या चूकि व्यक्ति से समष्टि की ओर जाती है, इसलिये उसे हल करने का प्रयत्न पहले व्यक्ति को लाभान्वित करता है, फिर वह समष्टि की ओर बढता है। इसलिये उस समस्या का हल ढूढने वाले दर्शन की पहला सीढी है, किसी व्यक्तिविशेष को सुखी बनाना। स्पष्ट है कि दर्शन की चरम लक्ष्य समष्टि को सुखी बनाना है न कि किसी व्यक्ति विशेष को। व्यक्ति विशेष को सुख मिल जाना तो उसके विकास की प्रथम सीढी है। जो दर्शन जितने अश में समष्टि को सुखी बना पाता है, वह उतना ही विकसित एव पूर्ण कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन हमारे इसी लोक म उत्पन्न होता है और यहीं वह फलता-फूलता है। जीवन का स्वस्थ विकास ही दर्शन है।

उपर्युक्त विवेचन में कुछ बातें उलझ सी गई हैं, उनका यहा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। अभी हमने देखा कि सारे ससार

का प्रयत्न, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामूहिक, सुख की खोज करना है, और दर्शन का विषय भी सुख की खोज है । इस प्रकार दर्शन भी तो वही करता है, जिसे हम सब करते हैं, तो क्या हमारा समस्त जीवन ही एक दर्शन नहीं है ? यहां हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवन भी एक दर्शन है, किन्तु अविकसित एवं अपूर्ण । इसी अविकसित एवं अपूर्ण जीवन को विकसित एवं पूर्ण बनाना दर्शन का विषय है । हमारे जीवन की रूपरेखा उसके दार्शनिक महत्व को प्रकट करती है । हम अपने जीवन से जितने अंश में सुखी हैं, उतने अंश में वह वास्तविक दर्शन है । किन्तु जीवन और सुख का सम्बन्ध कैसा है, यह सभी को ज्ञात है । किसी विरले ही व्यक्ति को अपने जीवन से सन्तोष होता है, और ऐसे व्यक्ति का जीवन वस्तुतः एक दर्शन है । इसीलिए उस जीवन की उपयोगिता समष्टि के लिए भी उतनी ही होती है, जितनी उस व्यक्ति के लिए । यह भी सच है कि हमारे जीवन से जितना सुख दुःख हमें होता है, उससे (हमारे जीवन से) उतना ही सुख दुःख दूसरों को भी होता है । कुछ लोग हमारे जीवन से सुखी होते हैं, और कुछ लोग दुःखी । जीवन का यह सुख केवल सुख का आभास मात्र है, किन्तु हमारे व्यक्तिगत सुख दुःख के साथ समष्टि का सुख दुःख किस प्रकार बंधा हुआ है, यह इससे स्पष्ट मालूम हो जाता है । स्पष्ट है कि हमारे जीवन की जिन हलचलों से यह स्थिति उत्पन्न होती है, वे सुख-खोज के पूर्ण एवं विकसित मार्ग नहीं हैं । समष्टि के जीवन और उसकी हलचलों पर भी वह सिद्धान्त लागू होता है । जो व्यक्ति या समाज अपने जीवन को इस योग्य बना लेता है कि विश्व में वह अधिक से अधिक सुख की वृद्धि कर सके, वह स्वयं भी उतना ही सुखी होता है । जीवन साधना का फल उल्टा होता है । हम दूसरों को जितना सुखी बनाते हैं, अपने भी उतने ही सुखी होते हैं । दूसरों के सुख की उपेक्षा अपने ही सुख की उपेक्षा है । और दूसरों पर दुःख लाना अपने ही दुःख का आवाहन है, जीवन में इस तथ्य

को समेट कर चलना ही जीवन दर्शन है। ऐसे जीवन के आदर्श या सिद्धान्त ही सुख खोज के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि दर्शन विश्व जीवन को सुखी बनाने का ही एक प्रयत्न है। यह हमारे वैयक्तिक जीवन में भी रहता है और समष्टिगत जीवन में भी। यही उसका सही रूप है।

सृष्टि एक प्रयोगशाला है, इसमें अनन्त कोटि जीव जीवन साधना कर रहे हैं। उन सबका प्रयोग एक ही तत्त्व की खोज कर रहा है। इस तथ्य को सामान्यतः हम हृदयगम नहीं कर पाते। हम अपने लक्ष्य को दूसरों के लक्ष्य से भिन्न तो मानते ही हैं। सुख की खोज का वास्तविक मार्ग भी हम नहीं देख पाते हैं। यही कारण है कि हम सबके कार्यों में पारस्परिक विरोध रहता है। कभी हम समझते हैं कि सम्पत्ति ही सुख की खान है, इसलिए हमारी नब्बे प्रतिशत योजनाएँ इसी ओर लगी रहती हैं। कभी-कभी हम समझते हैं कि कीर्ति ही सुख का साधन है, इसलिए हम अपनी कीर्ति को बढ़ाने में ही अपने सभी प्रयत्नों को केन्द्रीभूत कर देते हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि वस्तुतः न तो प्रभूत सम्पत्ति में ही हम सुखी हो पाते हैं और न दिगव्यापिनी कीर्ति से ही। सम्पत्ति में सुख नहीं है, पुत्र पौत्रादिक परिवार में सुख नहीं है, यश और नाम में सुख नहीं है। इस प्रकार जब हम विश्व के प्रायः सभी क्रिया-कलापों से एक एक करके असन्तुष्ट हो जाते हैं, तो सुख किसमें है? यह प्रश्न भयंकर रूप में हमारे समाने खड़ा हो जाता है। उस समय हम अपनी जिज्ञासा शक्ति को बहुत आगे बढ़ाकर सुख किसमें है, इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने लगते हैं। उस समय सम्भवतः हम 'मुझे सुख किसमें मिलेगा' इस सीमा को तोड़कर समष्टि की सीमा में आ पहुँचते हैं। फलतः हमारे सोचने का ढंग इस प्रकार का हो जाता है कि 'सुख क्या है?' और वह 'सुख किसमें है?' यहीं से दार्शनिकों की—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'—विचार-सरणि प्रारम्भ होती है। जब तक हम लौकिक भावना पर विश्वास करते

रहते हैं, तब तक हम 'सुख क्या है ?' के चक्कर में नहीं पड़ते। उस समय तक तो हम 'ऐसा हो जाने पर सुख मिलेगा' में ही फँसे रहते हैं। ऐसा जीवन दर्शन नहीं है। दार्शनिकों ने इस जीवन को मिथ्या, भ्रम अथवा माया कहकर दर्शन का विरोधी माना है। हम दिन-रात सुख के लिये हाथ-पाँव पटकते रहते हैं और अन्त में जीवन समाप्त कर देते हैं, किन्तु सुख नामक पदार्थ का स्पर्श भी नहीं कर पाते। इसका क्या कारण है ? यहीं से हम दर्शन की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हैं।

लोक में हम प्रायः अपने से ऊँचे स्तर के लोगों को सुखी मानते हैं और उन्हीं के जीवन को आदर्श मानकर चलते हैं। किन्तु वस्तुतः वे सुखी नहीं होते। क्योंकि वे भी अपने से ऊँची किसी दूसरी स्थिति को सुख मानकर उसके पीछे दौड़ा करते हैं। यह परम्परा बहुत दूर तक जाती है और इसका अन्त नहीं होता। दर्शन इस परम्परा को माया बतलाकर जीवन का सही मार्ग दिखलाता है और बताता है कि सबका वास्तविक आदर्श एक है और वह इस माया की परम्परा से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि इस परम्परा में तो सभी दुःखी हैं। तो फिर सुखी कौन है ? शान्ति किसे प्राप्त होती है ? शांति की चर्चा मैंने इसलिए कर दी, क्योंकि यही सच्चे सुख की परिचायिका है। जिसे शान्ति मिल जाती है, वही सुखी माना जाता है। तो यह शान्ति और उसकी स्थायी स्थिति में उत्पन्न सुख क्या है ? दर्शन यहाँ हमारी सहायता करता है। वह बताता है कि जिस मृगमरीचिका को अभी तक सुख मानकर तुम उसके पीछे दौड़ रहे थे। वह वस्तुतः सुख नहीं है। वास्तविक सुख का नाम ब्रह्मानन्द है। अर्थात् अपनी वास्तविक स्थिति पर पहुँच जाने पर हम शान्त और सुखी हो जाते हैं। दर्शन की भाषा में इसी स्थिति को स्वरूप ज्ञान कहते हैं। तो हमारी वास्तविक स्थिति क्या है, इसके लिए भी दर्शन हमें सामग्री देता है। विचार की इस सीढ़ी पर पहुँच जाने पर हम ससार से अलग मालूम पड़ने लगते हैं। हम सोचने लगते हैं कि जब ससार में सुख नहीं है, तो सुख

खोजने के लिए हम इससे आगे बढना चाहिए। ठीक है, इससे आगे हम बढते हैं और वहाँ हमें जीवन की समस्या का हल मिलता है, किन्तु दर्शन की यह विचार-पद्धति हमे सुख की खोज करने के लिए जहाँ ले जाना चाहती है वह स्थान वस्तुत ससार से पृथक् नहीं है। हम अपनी दृष्टि से जिस ससार को देखते हैं, वह हमारा और आपका बनाया हुआ ससार है। हम अपनी इस निर्माण क्रिया को स्थगित करके यदि फिर ससार का निरीक्षण करें, तो उसमे कुछ ऐसी मौलिकता दिखाई देगी जो हमारी और आपकी कृति नहीं है। मौलिक ससार को हमारी कृतियों ने इतना आच्छादित कर लिया है कि हमारी दृष्टि उसे देख नहीं पाती। हम तो 'ग्रह' की कृति म ही उलझे रहते हैं। दर्शन हम वह दृष्टि, ज्ञान देता है जिससे हम मौलिक ससार को देख तथा समझ पाते हैं। वैसा हो जाने पर हम मौलिक ससार में बडी शीघ्रता से सुख प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए दर्शन ग्रह को स्थगित करने की सम्मति देता है।

अपने संसार म जिसे हम सुख मानते हैं, वह दर्शन की दृष्टि में वास्तविक सुख नहा है। इसलिये कुछ लोग लौकिक सुख और ब्रह्मानद में भेद मानते हैं। वे सुख को लौकिक तथा आनन्द को पारलौकिक बताते हैं, किन्तु यह परिभाषा जँचती नहीं। हमें ससार में जो सुख मिलता है, वह वस्तुत सुखाभास है, क्योंकि वह स्थायी नहीं होता, दूसरे वह सुख प्रकारान्तर से दु ख का भी कारण हो जाता है,हमारे न सही दूसरे के। कभी-कभी हमारा ही सुख हमारे दु ख का कारण हो जाता है। इसलिये उसे हम विशुद्ध सुख नहीं मानते हैं। एक बात और है, हम लोक म कितने भी सुखी हो जाते हैं, किन्तु हमारी सुखाकाक्षा बनी रहती है। यह आकाक्षा अतृप्ति की परिचायिका है। तो जिस सुख से पूर्ण तृप्ति नहीं होती, वह सुख कैसा? इसीलिए इसे हम सुखाभास कहते हैं। जहाँ हमारी आकाक्षाएँ शून्य हो जाती हैं, वहीं सुख की वास्तविक स्थिति आती है। दार्शनिक उसे ही सहज आनन्द कहते हैं। इस स्थिति में एक दूसरी ही आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। यह आकाक्षा आनन्द में

पूर्णता लाती है। यह अतृप्ति से नहीं, तृप्ति से उत्पन्न होती है। इसीलिए जिसमें यह आकांक्षा नहीं होती, उसे तृप्त नहीं माना जाता।[१] लोक में हमारी आकांक्षा जिस सुख को खोजती है उसमें और दर्शन के आनन्द में कोई भेद नहीं है। लोक में हम चाहते तो उसी आनन्द को हैं, किन्तु भ्रम वश, अज्ञानवश सुख का रास्ता छोड़कर भटकते रहते हैं, फलतः सदा अतृप्त ही बने रहते हैं। हमारी आकांक्षा इसीलिये शान्त नहीं होती, क्योंकि वह जिस सुख को चाह रही है, वह तो उसे मिलता ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि हम संसार में मूलतः जिस चीज को खोज रहे हैं, उसी को प्राप्त करने का सही मार्ग दर्शन प्रस्तुत करता है। अभी हमने जिस मौलिक संसार की चर्चा की है उसकी स्थिति इसी संसार में है। जब हम विशुद्ध सुख को पहचान लेते हैं और उसको प्राप्त करने का मार्ग भी पकड़ लेते हैं तो हमारे बनाये हुए संसार का स्वतः लोप हो जाता है। इसी अर्थ में आचार्य शंकर ने संसार को "रज्जौ यथाहेर्भ्रमः" माना है। किन्तु इसी संसार में हम मौलिक संसार भी पा जाते हैं। इसीलिये यह मिथ्या भी है और सत्य भी। जिस दृष्टि से हम दुःख की स्थिति में संसार को देखते हैं उस स्थिति में वह दुःखपूर्ण और भ्रम है। किन्तु सुख की स्थिति में वह हमारे सुख का ही एक अंग हो जाता है। इस प्रकार संसार को उसके वास्तविक रूप में जानने का प्रयत्न ही तो दर्शन है। और चूंकि यह जानकारी पूर्ण तथा सुखप्रद होती है। इसी लिये दर्शन को ही पूर्ण तथा सच्चा विज्ञान कहा जा सकता है। अपनी, संसार की तथा सुख की वास्तविक स्थिति का परिज्ञान करना ही दर्शन का मुख्य लक्ष्य है और मानव-जीवन का भी सम्भवतः यही मुख्य लक्ष्य है। इसलिये हमारे जीवन के मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र विज्ञान, दर्शन हमसे तथा हमारे जीवन अर्थात् संसार से पृथक नहीं है। सांख्य शास्त्र इसीलिये कर्मठ जीवन को ही दर्शन का चरम लक्ष्य मानता है।

---

१ रामचरित जे सुनत अघाहीं, रस विशेष पावा तिन नाहीं। तुलसी।

और इसीलिये तुलसी ने भी इसी संसार के उपकरणों से अपने दर्शन की भित्ति खड़ी की है। उनका ब्रह्म भी इसी संसार का है और हमारा उसका पारस्परिक सम्बन्ध भी प्रायः संसार के ही सम्बन्धों की तरह है। जो लोग दर्शन को इस जीवन से अलग मानते हैं। उनकी दार्शनिक मान्यताएँ बुद्धि से परे ज्ञात होने के कारण भले ही आश्चर्यचकित करने वाली हों, किन्तु उनका प्रभाव हम पर नहीं पड़ सकता। ऐसी मान्यताएँ हमारे बौद्धिक व्यायाम का साधन बन सकती हैं, किन्तु उनमें जीवन को रसमय बनाने की शक्ति नहीं आ सकती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन का हमारे जीवन में क्या उपयोग है तथा उसका और अन्य विज्ञानों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है। अन्य सभी विज्ञान इसके अंग या शेष माने जा सकते हैं। जीवन का वास्तविक तथा पूर्ण विज्ञान दर्शन ही है और इसीलिये इसकी उपयोगिता जीवन के लिये अनिवार्य है।

दर्शन, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान

दर्शन की मुख्य चेष्टा 'अहं' और 'इदम्' को समझने की ओर है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'अहं' को समझना अधिक कठिन है या 'इदम्' को। दोनों का महत्व समान है। लेकिन देखा यह जाता है कि दर्शन की अधिकांश विचार-सरणि 'अहं' का ही विश्लेषण करती है। 'इदम्' की व्याख्या तो वह करती है। किन्तु ब्यौरे पर नहीं जाती। दर्शन का कहना है कि 'अहं' को समझ लेने पर 'इदम्' का सारा रहस्य खुल जाता है। इसलिये मुख्य ध्यान 'अहं' अर्थात् अपने को समझने की ओर ही देना चाहिए। अपने को समझ लेने पर 'इदम् का समझना शेष नहीं रह जाता। क्योंकि 'इदम्' अपने से, 'अह' से पृथक् कुछ नहीं है। इसे यों भी कहा जाता है कि इदम्, अहं की ही विकृति है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इदम् को अलग रखकर क्या अहं को अच्छी तरह समझा जा सकता है। अथवा, बिना इदम् को पकड़े, क्या अहं पकड़में आ सकता है। इस पर दार्शनिकों में मतभेद है। जो लोग इदम् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते, वे इसकी उपेक्षा करने की राय देते हैं। अर्थात् इदम् से बचकर ही 'अहम्' को समझना उनकी राय में उचित है। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं, जो इदम् की बिलकुल उपेक्षा तो नहीं करते, किन्तु 'अह' की अपेक्षा उसे कम महत्व देते हैं किन्तु दार्शनिकों का एक तीसरा वर्ग भी है, जो इदम् को अधिक महत्त्व देता है। उसकी मान्यता है कि इदम् को समझे बिना अहं समझ में नहीं आता। इसलिए 'अहं' को समझने के लिये इदम् को समझना ही मुख्य साधन है। दार्शनिकों के इसी वर्ग ने मनोविज्ञान के विकास को प्रश्रय दिया है।

यद्यपि दर्शन में मनोविज्ञान का बीज मिलता है। मन को समझने का थोड़ा बहुत प्रयत्न दर्शन में भी हुआ है। किन्तु उसका लक्ष्य मन

नहीं है। इसलिए मन सम्बन्धी उतनी ही जानकारी दर्शन करना चाहता है, जितने से उसका आगे का मार्ग खुल जाता है। इसका फल यह हुआ कि दर्शन का साधन पथ बहुत उलझ गया है। बात यह है कि जिस दुनियों में रहकर दर्शन की साधना आगे बढ़ना चाहती है। उसकी वैज्ञानिक खोज दर्शन नहीं कर सका है। वह सृष्टिक्रम को उपस्थित करने, उसकी तात्त्विक स्थिति का विश्लेषण कर, यह तो बता देता है कि दुनियों का सारा खेल मनका खेल है। किन्तु मन की शक्तियों, नियमों और रहस्यों का उद्घाटन वह नहीं करता, जिनके द्वारा मन सारे खेल खेलता है। बाजीगर की कला का रहस्य खुले बिना उसके खेलों की कलई कैसे खुल सकती है। मनोविज्ञान, दर्शन की इस कमी को पूरा करता है। इस माने मे वह दर्शन का सहायक है। जहाँ तक तात्त्विक अनुभूति का प्रश्न है, दर्शन का मार्ग प्रशस्त है। मनोविज्ञान तात्त्विक अनुभूति में सीधे कोई भी सहायता नहीं पहुँचाता। किन्तु व्यावहारिक पहलू अर्थात् नीति शास्त्र की व्याख्या में बिना मनोविज्ञान के काम नहीं चलता। क्रोध, लोभ, मोह आदि बिलकुल नहीं करना चाहिए या मर्यादित करना चाहिये, कब करना चाहिये, कब नहीं, इन जैसे अनेक प्रश्नों पर नीतिशास्त्र विचार करता है। किन्तु उसको व्यवहार में किस प्रकार लाया जाय, अर्थात् नीति-शास्त्र के निर्देशों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय तथा कार्यान्वयन में किन किन बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। उनके शमन का उपाय क्या है? इत्यादि प्रश्नो का उत्तर ढूँढने के लिये जब वह दर्शन की ओर देखता है, तो उसे उतनी सहायता नहीं मिलती, जितनी कि मनोविज्ञान उसे देता है। यह समझ रखना चाहिये कि दर्शन और मनोविज्ञान दोनों यथार्थवादी विज्ञान हैं। यह जैसा है, वैसा बता देंगे। उचित है या अनुचित, यह बताना इनका काम नहीं है। यह नीति शास्त्र बताता है। नीतिशास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान है। यद्यपि दर्शन में आदर्श के लिए पर्याप्त स्थान रहता है, किन्तु वह मूलतः तत्त्ववादी है। आदर्श के निर्धारण में नीति-शास्त्र दर्शन

से सहायता लेता है। और उस आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग वह मनोविज्ञान की सहायता से तैयार करता है। इस प्रकरण में इन तीनों शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर सक्षिप्त किन्तु सूक्ष्म विचार किया जायगा।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि नीति को ही केन्द्र मानकर हम मनोविज्ञान और दर्शन के सम्बन्धों पर विचार करेंगे। क्योंकि वही मुख्य है। वह हमारे व्यवहारों के साथ सीधा सम्बन्ध रखने के कारण जीवन के अधिक सन्निकट है। दर्शन और मनोविज्ञान दोनों की खोजों का प्रतिफल नीतिशास्त्र ही चरितार्थ करता है। इसलिए हम यह देखना *चाहेंगे कि नीति को पुष्ट करने में दोनों किस मात्रा तक सहयोग करते* हैं। नीति शास्त्र, लक्ष्य का निर्धारण यद्यपि नहीं करता, किन्तु मार्ग की पुष्टि के लिये उसका महत्व है। उदाहरण के लिए हमें एक बाँध बनाना है। बाँध की रूपरेखा और उससे होने वाले आय और व्यय का तखमीना इन्जीनियर तैयार करता है। यह काम दर्शन का है। किन्तु केवल नकशे का बाध एक बोझ है, उससे राई भर भी लाभ होने की सम्भावना नहीं है, जब तक कि उसे वास्तविक बाध के रूप में न प्रस्तुत कर दिया जाय। यह काम इन्जीनियर का नहीं, श्रमिकों का है। नीतिशास्त्र दर्शन के लक्ष्य तक पहुँचने वाले साधकों, श्रमिकों के कार्य का निर्देशन करता है। मनोविज्ञान नीतिशास्त्र के इस काम में सहायता पहुँचाता है। *दर्शन ने नक्शा बनाया। मनोविज्ञान ने श्रमिक तैयार किया* और फिर नीतिशास्त्र ने *कागज के टुकडे पर बने बाध को धरती पर* लाकर खडा कर दिया। इसलिए असली काम तो नीतिशास्त्र ही करता है। बाध का ऐसा नक्शा बना देना, जिसे श्रमिक बना ही न सकें, अथवा जिसे तैयार करने के लिए मनोविज्ञान श्रमिक ही न तैयार कर सके, बेकार है। *इसी प्रकार दर्शन की ऐसी खोज जिसे हम प्रयत्न के द्वारा प्राप्त न कर* सकें, किसी काम की नहीं है। मनोविज्ञान का तो सिद्धान्त ही व्यवहार के ऊपर टिका हुआ है। वह व्यवहार के द्वारा ही मन को समझने की चेष्टा

क्या है ! क्षेत्र की दृष्टि से दोनों पृथक् दिखलाई देते हैं, किन्तु दोनों का लक्ष्य एक है। यदि हम धर्म की परिभाषा 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः, मान लें तो यह कहना पड़ेगा कि इस धर्म में दर्शन और नीतिशास्त्र दोनों आ गये हैं। नीतिशास्त्र लौकिक अभ्युदय और दर्शन निःश्रेयस् सिद्धि का सहायक है। साधक के लिए दर्शन की तात्त्विक व्याख्याएँ या ज्ञान, भक्ति आदि मार्ग जितने महत्व रखते हैं, उससे कम महत्व लौकिक व्यवहार नहीं रखते। उसका जीवन लौकिक और पारलौकिक दोनों ही साधनाओं की सिद्धिभूमि है। जब तक उसका शरीर है, उसके धर्मों को उसे निभाना है। "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" का अनुभव हो जाने पर भी जल और मिट्टी, मानव और पशु तथा अच्छा और बुरा का ध्यान उसे रखना ही है। तो इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन की लौकिक और पारलौकिक दोनों ऐषणाओं की पूर्ति का निर्देशन क्रमशः नीतिशास्त्र और दर्शन करता है। यहाँ एक बड़े मजे का प्रश्न उठता है। क्या दो लक्ष्य हैं? क्या मनुष्य दो प्रकार का कल्याण चाहता है। कुछ लोग पारलौकिक कल्याण के लिए लौकिक कल्याण को भूल जाने की सलाह देते हैं। उनकी मान्यता है कि दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। लौकिक सुख के पीछे दौड़ने वाला पारलौकिक सुख का स्पर्श भी नहीं कर सकता। ठीक इसके विरोध में एक दूसरी विचारधारा है, जो लौकिक सुख को सर्वस्व मानकर पारलौकिक सुख का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करती। इन दोनों के मध्य की एक विचारधारा है, जो इन दोनों को ही 'अतिवाद' मानती है। वह दोनों को समान महत्त्व देती है। लौकिक और पारलौकिक में जो विरोध है उसे दूर कर समन्वय करती है। नीतिशास्त्र का काम यही समन्वय करना है। यद्यपि यह उसका मुख्य काम नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि नीतिशास्त्र हमारे जीवन के व्यवहार को इस तरह से बनाना चाहता है, जिसमें लौकिक अभ्युदय तो हो ही, पारलौकिक कल्याण में उससे कोई बाधा न उपस्थित हो।

व्याख्या है। ऐसा करने में नीतिशास्त्र कहीं-कहीं स्वतंत्र नियम निर्धारित करता है। ऐसे समय में वह दर्शन के नियमों और सिद्धांतों की अवहेलना तो नहीं करता, किन्तु उसका अनुगामी नहीं बनता। ऐसे स्थलों को दर्शन व्यवहार कहकर टाल देता है। दर्शन व्यवहार के पचड़े में बहुत नहीं पड़ता। यद्यपि यह स्पष्ट है कि दर्शन व्यवहार का विरोधी नहीं है, किन्तु उसका विषय व्यवहार नहीं है। नीतिशास्त्र का विषय व्यवहार है। दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि लौकिक जीवन को समुन्नत बनाने के लिए तथा जीवन साधना की निर्विघ्न सिद्धि के लिए लौकिक कर्तव्यों का पालन आवश्यक है। किन्तु लौकिक कर्तव्यों की ऐसी रूपरेखा बनाना, जिससे वे पारमार्थिक लक्ष्य के विरोधी न बन सकें, दर्शन का काम नहीं है। इसके लिए वह नीतिशास्त्र का मुखापेक्षी है। नीतिशास्त्र इस काम में दर्शन की मदद नहीं लेता, वह दे भी नहीं सकता। इसके लिए नीतिशास्त्र समाज, वातावरण और मानव जीवन का अध्ययन करता है। और उनके बीच से उचित कर्तव्य निर्धारित करता है। इस काम में मनोविज्ञान काफी सहयोग देता है। इस पर आगे विस्तृत विचार किया जायगा। यहाँ केवल यह कहना है कि कर्तव्य के विशाल क्षेत्र पर दर्शन नहीं, नीतिशास्त्र शासन करता है। दर्शन केवल प्रकाश मात्र देता है या कर्तव्य की दिशा की ओर संकेत मात्र कर देता है। शेष काम नीतिशास्त्र ही करता है।

एक बात और है, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिस मुख्य कर्तव्य अथवा साधन पथ को दर्शन प्रस्तुत करता है, उसमें नीतिशास्त्र दखल नहीं देता। भक्ति कितने प्रकार की होती है, ज्ञान का स्वरूप क्या है, इत्यादि विषय नीतिशास्त्र का नहीं है। इसी प्रकार लौकिक व्यवहारों में दर्शन दखल नहीं देता। अपने पड़ोसियों के साथ हम कैसा व्यवहार करें या अमुक अवसर पर हम झूठ बोलें या नहीं, इत्यादि पचड़े में दर्शन नहीं पड़ता। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र अलग हो जाता है। फिर दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है। सम्बन्ध तो है, किन्तु उसका आधार

क्या है ? क्षेत्र की दृष्टि से दोनों पृथक् दिखलाई देते हैं, किन्तु दोनों का लक्ष्य एक है। यदि हम धर्म की परिभाषा 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः, मान लें तो यह कहना पड़ेगा कि इस धर्म में दर्शन और नीतिशास्त्र दोनों आ गये हैं। नीतिशास्त्र लौकिक अभ्युदय और दर्शन निःश्रेयस् सिद्धि का सहायक है। साधक के लिए दर्शन की तात्त्विक व्याख्याएँ या ज्ञान, भक्ति आदि मार्ग जितने महत्त्व रखते हैं, उससे कम महत्त्व लौकिक व्यवहार नहीं रखते। उसका जीवन लौकिक और पारलौकिक दोनों ही साधनाओं की सिद्धिभूमि है। जब तक उसका शरीर है, उसके धर्मों को उसे निभाना है। "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म" का अनुभव हो जाने पर भी जल और मिट्टी, मानव और पशु तथा अच्छा और बुरा का ध्यान उसे रखना ही है। तो इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन की लौकिक और पारलौकिक दोनों ऐषणाओं की पूर्ति का निर्देशन क्रमशः नीतिशास्त्र और दर्शन करता है। यहाँ एक बड़े मजे का प्रश्न उठता है। क्या दो लक्ष्य हैं ? क्या मनुष्य दो प्रकार का कल्याण चाहता है। कुछ लोग पारलौकिक कल्याण के लिए लौकिक कल्याण को भूल जाने की सलाह देते हैं। उनकी मान्यता है कि दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। लौकिक सुख के पीछे दौड़ने वाला पारलौकिक सुख का स्पर्श भी नहीं कर सकता। ठीक इसके विरोध में एक दूसरी विचारधारा है, जो लौकिक सुख को सर्वस्व मानकर पारलौकिक सुख का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करती। इन दोनों के मध्य की एक विचारधारा है, जो इन दोनों को ही 'अतिवाद' मानती है। वह दोनों को समान महत्त्व देती है। लौकिक और पारलौकिक में जो विरोध है उसे दूर कर समन्वय करती है। नीतिशास्त्र का काम यही समन्वय करना है। यद्यपि यह उसका मुख्य काम नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि नीतिशास्त्र हमारे जीवन के व्यवहार को इस तरह से बनाना चाहता है, जिससे लौकिक अभ्युदय तो हो ही, पारलौकिक कल्याण में उससे कोई बाधा न उपस्थित हो।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तो फिर धर्म और नीतिशास्त्र एक ही चीज हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। धर्म के अन्दर विशेष और साधारण धर्म तथा मत, मजहब आदि दूसरी चीजें भी कभी कभी आ जाती हैं। इसलिए नीतिशास्त्र से वह पृथक् है।[१] उदाहरण के लिए विशेष धर्म में सत्य का जितना महत्त्व है, नीतिशास्त्र में उतना नहीं है। धर्म की व्याख्या में बहुत पचड़ा है। शास्त्रीय दृष्टि से तो शास्त्रों में जो विधान किया गया है अर्थात् धर्मनाम से जिसका उल्लेख किया गया है वही धर्म है। नीतिशास्त्र के लिए कोई दूसरा शास्त्र या कोई महापुरुष और ऋषि प्रमाण नहीं है। नीतिशास्त्र स्वयं एक आदर्श मानव की स्थापना करता है और उसी के समीप पहुँचने की अर्थात् वैसा ही आचरण करने की सलाह देता है। वह मानव को किसी दूसरी शक्ति से नियन्त्रित या प्रेरित नहीं मानता, क्योंकि फिर तो नीतिशास्त्र का आधार ही नष्ट हो जायगा। क्योंकि जब व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है तो फिर वह क्या करना चाहिये, क्या नहीं, यह सोच ही नहीं सकता। सोचे भी तो, कोई फल नहीं निकल सकता। कर्म करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है, यह मानकर ही नीतिशास्त्र कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेचन में प्रवृत्त होता है। धर्म शास्त्र आदेश देता है, नीतिशास्त्र सलाह देता है।

वस्तुतः दर्शन की चिन्तन प्रणाली की छाया में ही नीतिशास्त्र की विचार-सरणि पल्लवित होती है। इसलिए दर्शन में जिस स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा स्थापित हुई है, उसका प्रभाव नीतिशास्त्र पर भी पड़ा है। सूत्र रूप में दर्शन और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दर्शन सत्य की खोज करता है और नीतिशास्त्र उस 'सत्य' तत्त्व के 'शिव' पहलू का उद्घाटन करता है।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान —नीतिशास्त्र हमारे कर्तव्य व शुभाशुभ का निर्णय करता है। हमारे कार्य करने की प्रणाली और स्वरूप की विवेचना कर वह उसका मूल्यांकन करता है। किन्तु उसके

१ भारतीय मान्यता के अनुसार धर्म में ही नीतिशास्त्र का अन्तर्भाव है। वैसी अवस्था में यह ठीक है।—लेखक

पास कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसके बल पर वह हमसे कोई काम करा सके या किसी काम से हमें विरत कर सके। इसलिए वह केवल शुभाशुभकर्मों की परिभाषा मात्र बनाता है। हम किस प्रकार शुभ कर्मों की ओर अग्रसर हो तथा किस प्रकार अशुभ कर्मों से विरत हों, जब तक इसका साधन नहीं उपलब्ध होता, तब तक नीतिशास्त्र की व्याख्या व्यर्थ है। यदि यह मान लिया जाए कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कामों का फल बुरा होता है, इस कारण लोग अच्छे कर्मों के प्रति स्वयं आकर्षित होते हैं तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायः ऐसा नहीं भी होता है। लोक में यह हम देखते हैं कि अनेक नैतिक जीवन सम्पन्न व्यक्ति दुःख उठाते हैं और पापाचारी मौज उड़ाते हैं। यद्यपि यह उन कर्मों का परिणाम नहीं है, बल्कि इस विरोध का दूसरा कारण होता है। किन्तु प्रत्यक्षतः सामान्य व्यक्ति इतनी गहराई में नहीं बैठता। वह तो ऊपरी दृष्टि से लोक के सुख-दुख को देखता है। यह स्पष्ट है कि अच्छे काम करने वालों को त्याग, बलिदान, और कष्ट सहन के लिए तैयार रहना पड़ता है। यद्यपि अन्त में वे सुखी होते हैं। फिर भी इस त्याग, बलिदान की प्रेरणा कैसे मिले, इसका उत्तर नीतिशास्त्र अकेले नहीं दे पाता। बात यह है कि जब तक नीतिशास्त्र को यह न ज्ञात हो जाय कि व्यक्ति की कौन सी शक्ति उसे कर्तव्य पथ पर आरूढ़ करती है। तब तक वह क्रिया—शुद्धि की प्रणाली को सम्पन्न नहीं कर सकता।

हमारी जो शक्ति बुरा काम करती है, वही अच्छा काम भी करती है। इसलिए उस शक्ति को बाधकर बुरा काम करने से रोकना एक बात है। और उसे खुला छोड़कर अच्छे कामों की ओर प्रेरित करना दूसरी बात है। पहली बात नीतिशास्त्र नहीं कर सकता। क्योंकि वैसी स्थिति में अच्छे काम के साथ बुरे काम भी रुक जायेंगे। जो नीतिशास्त्र को अभीष्ट नहीं है। दूसरी बात ही उसे करनी है। नीतिशास्त्र यदि कोरा आदर्श

बगारता है तो वह किसी काम का नहीं है। यथार्थ की धरती पर उतर कर ही उसे हमारे कर्तव्यों के सम्बन्ध में अपनी राय देनी चाहिए। इसलिए यह माना जाता है कि नीतिशास्त्र नियमन और उन्नयन करता है, दमन नहीं करता।

व्यक्ति के समस्त कार्य-कलाप उसके विचारों के परिणाम स्वरूप सम्पन्न होते हैं। 'जैसे विचार वैसे कार्य' नियम बहुत ही स्वाभाविक है। और विचारों का निर्माण तथा विकास व्यक्ति की भावनाओं पर आधारित है। हमारे विचारों पर हमारी भावनाओं का ही प्रभाव पड़ता है। विचारों में परिवर्तन भी होता है और उसमें दृढ़ता भी आती है। यह सभी भावनाओं के ही कारण होता है। इससे यह स्पष्ट है कि क्रिया का मुख्य हेतु भावना है। इसलिए क्रिया की सांगोपांग व्याख्या या उसका मूल्यांकन के लिए नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। मनोविज्ञान हमारी भावनाओं और विचारों का अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र इस अध्ययन से लाभ उठाकर उसकी शुद्धता और अशुद्धता की जाँच करता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र सीधे कर्मों की व्याख्या नहीं करता, अपितु वह कर्म के उत्पत्ति-स्थलों तथा हेतुओं का निरीक्षण करके ही उसका मूल्यांकन करता है। क्योंकि केवल कर्म को देखकर मूल्यांकन अधूरा ही नहीं, भ्रमपूर्ण भी होता है।

यहाँ नीतिशास्त्र के दो मुख्य पहलुओं की चर्चा कर देनी आवश्यक है। कुछ लोग कार्य के परिणाम के आधार पर कार्य का मूल्यांकन करते हैं। और कुछ लोग कार्य के मूल में रहने वाली भावना के आधार पर उसे परखते हैं। परिणाम के आधार पर कार्य का मूल्यांकन अमनोवैज्ञानिक है। क्योंकि यदि भावना अच्छी है, किन्तु उसके अनुसार किया गया कार्य परिणाम में बुरा होता है तो इसमें व्यक्ति की नैतिकता का पतन नहीं है। अपितु क्रिया में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाने के कारण ही विपरीत परिणाम हुआ है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण बहुत प्रचलित है। यदि कोई व्यक्ति भिखारी को देने के

लिए एक रुपया उसके सामने फेंकता है और संयोगात् वह रुपया उसकी आंख पर पड़ता है और आँख फूट जाती है तो इसमें निश्चित ही रुपया फेंकने वाले का कोई दोष नहा है। आधुनिक कानून भी इस बात को मानता है कि बुरो भावना या बुरे उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जाने वाला अपराध ही दण्डनीय होता है। इसके प्रतिकूल यदि कार्य के मूल में रहने वाली भावना बुरी है, फिर भी संयोगात् उसका परिणाम अच्छा होता है तो यह कर्ता की असफलता है। वह अपनी भावनाओं के अनुरूप सफल नहीं हो सका। हो सकता है कि यदि वह ठीक ढग से काम किए होता तो अपने उद्देश्य में सफल हुआ होता। और ऐसी स्थिति में कार्य का परिणाम अनैतिक हुआ होता। इसलिए यह माना गया है कि कर्तव्य की प्रेरणात्मक भावनाओं के आधार पर ही उसका मूल्यांकन करना चाहिए। यदि भावनाएं शुद्ध हैं, फिर भी क्रिया का परिणाम कर्त्ता की अयोग्यता या प्रमाद के कारण बुरा होता है। तो इसमें वह अयोग्य भले ही करार दे दिया जाय, अनैतिक नहीं कहला सकता। वस्तुतः ऐसी स्थिति में कर्त्ता के अन्दर जो पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी, उसमें जलकर सारा पाप नष्ट हो जायगा। मैं विषय से बाहर जा रहा हूँ। कहने का तात्पर्य यह कि जब नीतिशास्त्र कर्तव्या-कर्तव्य की मीमांसा करने चलता है, तो उसका काम मनोविज्ञान की सहायता के बिना आगे नहीं सरकता। क्योंकि अधिकांशतः नीतिशास्त्र का यह मत है कि क्रिया शुद्धि के लिए भावना शुद्धि आवश्यक है। एक पहलू से इसी बात को और देख सकते हैं।

किसी भी क्रिया में ऊपर भाग बहुत थोड़ा होता है। हम सब प्राय उस थोड़े भाग को ही देखते हैं। माँ ने रोते हुए बच्चे को गोद में उठा लिया। इस क्रिया में दिखलाई देने वाला भाग नगण्य है। किन्तु इसके अन्तर में दोनों ओर जो भावनाएं, विचार, एव उद्देश्य हैं, वे नगण्य नहीं हैं। वस्तुतः उनका ही महत्त्व है। क्योंकि क्रिया का दिखलाई देने वाला भाग, इसी आन्तरिक भाग से ही उत्पन्न होता है।

कभी-कभी तो ऊपरी रूप को देखकर उसके आन्तरिक रूप का भान हो जाता है। किन्तु प्रायः यह कठिन होता है और कभी-कभी तो हमारा अनुमान बिल्कुल उलटा हो जाता है। इसलिये क्रिया के ऊपरी स्वरूप के आधार पर उसकी अच्छाई और बुराई की मीमांसा करना 'लड़कपन होगा। जब तक क्रिया के समस्त स्वरूप का साक्षात्कार न हो जाय, तब तक नीतिशास्त्र उसकी मीमांसा में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस कार्य में मनोविज्ञान उसकी मदद करता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि नीतिशास्त्र का लक्ष्य केवल किसी क्रिया विशेष या कर्तव्य विशेष की मीमांसा करना ही नहीं है। अपितु वह समाज में नैतिक जीवन की प्रतिष्ठा करना चाहता है। वह समष्टि जीवन को लक्ष्य बनाकर कर्तव्याकर्तव्य की मीमांसा में प्रवृत्त होता है। व्यष्टि के जीवन पर जब वह विचार करता है, तो उसे समष्टि के बीच में रखकर ही वह ऐसा करता है। इसलिये यहां भी उसकी कसौटी समष्टि मूलक ही होती है। कहने का तात्पर्य यह कि उसका लक्ष्य समष्टि जीवन को ऊपर उठाना है। समष्टि के जीवन को परिष्कृत करने के लिये उसकी प्रेरक शक्तियों का विश्लेषण आवश्यक है। समष्टि का जीवन समष्टि मन का कार्य-कलाप है। इसलिये नीतिशास्त्र को यहां भी मन का सहारा लेना पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि नीतिशास्त्र मनोविज्ञान के घेरे में बन्द है। अर्थात् बहुत कुछ उसका क्षेत्र मनोविज्ञान के आस-पास ही केन्द्रित है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि नीतिशास्त्र की अलग कोई सत्ता ही नहीं है। इस माने में तो दोनों एक हैं कि वे एक ही चीज की व्याख्या करते हैं। किन्तु व्याख्या का दृष्टिकोण दोनों का अलग अलग है। मनोविज्ञान क्यों और कैसे की व्याख्या करता है और नीतिशास्त्र सद् और असद् की परख करता है। पहले का दृष्टिकोण यथार्थवादी है और दूसरे का आदर्शवादी। मनोविज्ञान यह बताता है कि अमुक-अमुक संयोग इकट्ठे होने पर अमुक-अमुक प्रकार की भावनाएं

तथा विचार उत्पन्न होते हैं। नीतिशास्त्र यह नहीं बताता। वह यह बतलाता है कि *अमुक भावना या विचार ठीक है या गलत।* इस दृष्टिकोण भेद के कारण दोनों की कसौटी अलग अलग हो जाती है, दोनों का आधार अलग हो जाता है। अपनी चीज को स्पष्ट करने के लिये मनोविज्ञान अपने ढंग पर नियमों और सिद्धान्तों की व्याख्या करता है। तथा नीतिशास्त्र अपने ढंग पर। अतएव दोनों विज्ञानों की अलग-अलग सत्ता है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अनेक बातों में मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र को सहायता करता है। अर्थात् बिना मनोविज्ञान के नीतिशास्त्र का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह कथमपि नहीं है कि मनोविज्ञान नीतिशास्त्र से बड़ा है। वस्तुतः कोई शास्त्र या विज्ञान किसी दूसरे शास्त्र या विज्ञान से बड़ा नहीं होता। सभी अपने क्षेत्र में *अप्रतिम हैं। साथ ही यह बात भी है कि प्रत्येक विज्ञान* का काम एक दूसरे की सहायता पर चला करता है। इसलिए यदि मनोविज्ञान नीतिशास्त्र की मदद करता है तो नीतिशास्त्र भी मनोविज्ञान की मदद करता है। सच बात तो यह है कि मनोविज्ञान की सार्थकता नीतिशास्त्र में है। इस बात की ओर मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ। शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान का जो उपयोग किया जा रहा है, उसमें नीतिशास्त्र ही मुख्य प्रेरक है। आखिर व्यक्ति के चरित्र को ऊँचा उठाने के अतिरिक्त शिक्षा का और क्या उद्देश्य हो सकता है और नीतिशास्त्र का यही *मुख्य लक्ष्य है। कहने का तात्पर्य यह कि नीतिशास्त्र में मनोविज्ञान* की कृतकृत्यता है।

दर्शन और मनोविज्ञान—उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप अब दर्शन और मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना सरल हो गया है। दर्शन विश्व के सत्य और नित्य तत्त्व की खोज करता है। मनोविज्ञान इस खोज की एक प्रणाली प्रस्तुत करता है। एक उदाहरण *से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भौतिक दृष्टि से आप यदि किसी लकड़ी,*

लोहे अथवा ऐसी ही अन्य वस्तुओं को लें और यह देखना चाहें कि इनमें नित्य और सत्य तत्त्व क्या है, तो आपको दो प्रक्रियाओं का आश्रय लेना पड़ेगा। पहली प्रक्रिया यह कि इसका उपादान कारण, जिससे यह बना है, क्या है और दूसरी यह कि इसका अन्तिम पर्यवसान क्या है। दोनों ही प्रक्रिया (पृथ्वी) मिट्टी सिद्ध करेगी और फिर आप उस पदार्थ को पार्थिव घोषित कर देंगे। बात यह है कि जो जिस चीज से उत्पन्न होता है और अन्त में जिसमें लय हो जाता है, वही उसका नित्य, सत्य तत्त्व है। सृष्टि जिस तत्त्व (ब्रह्म अथवा कोई भी नाम) से उत्पन्न हुई है। उसी में लीन भी हो जाता है। इसलिए दार्शनिक उसी तत्त्व को सृष्टि का नित्य, सत्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। 'सर्वखल्विदम् ब्रह्म' अथवा 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि आप्त वचन इसी विश्वास के परिणाम हैं।

सृष्टि ब्रह्म से पैदा हुई है। इसे जानने और समझने के लिए 'एकोऽहम् बहुस्याम्' की व्याख्या करनी पड़ती है। एक तत्त्व किस प्रकार अनेक हो जाता है, इसका मर्म समझना पड़ता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया एकत्व से बहुत्व की ओर जाती है। सृष्टि का पर्यवसान भी ब्रह्म है। इसे समझने और हृदयंगम करने के लिये अनेकत्व से एकत्व की ओर जाना पड़ता है। मनोविज्ञान, दर्शन की इस दूसरी प्रक्रिया के लिये अर्थात् अनेकत्व से एकत्व की ओर अभियान करता है। मनोविज्ञान हमारी समस्त वृत्तियों, भावनाओं, विचारों, संवेगों तथा इन्द्रियों का समन्वय कर, उनके समष्टि रूप मन की स्थापना करता है। दर्शन की इस मान्यता का कि सारी दुनिया मन का खेल है, मनोविज्ञान पूरा पूरा लाभ उठाता है। और, उसी की सीमा में रह कर मन और दुनिया के अनेक रहस्यों को खोलता है। प्रकृति के अनेक उदात्त तथा सुदृढ़ नियम, जो दर्शन की विचार प्रक्रिया या अनुभूति में योग देते हैं, उनमें मनोविज्ञान ने आश्चर्यजनक वृद्धि की है। सूर्य, चन्द्र, सागर, पर्वत, उत्पत्ति, लय आदि की मर्यादा तथा नियम खड़े खड़े होकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इनका हमारे सम्मुख चेतन जैसा महत्व नहीं

है। इनमें यदि कोई मर्यादा है, नियम है, तो उनका विशेष महत्त्व नहीं है। यद्यपि यह सत्य तत्त्व की सिद्धि और अनुभूति मे पर्याप्त सहायक है। हा, जब हम चेतन तत्त्व में भी कुछ मर्यादाओं और नियमों की अनिवार्यता देखते हैं तो हमें मूक होकर सब में रमने वाले एक सत्य तत्त्व को स्वीकार कर लेना पड़ता है। जड तत्त्व मे नियमों और मर्यादाओं की खोज अनेक भौतिक-वादी विज्ञान करते हैं और मनोविज्ञान चेतन-तत्त्व (मन) मे नियमों और मर्यादाओं की खोज करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान दर्शन की उतनी ही सहायता करता है। जितनी सभी भौतिक विज्ञान मिलकर करते हैं।

सभी विज्ञान तथा मानव की सभी प्रवृत्तियों की उत्पत्ति दर्शन मूलक है। अर्थात् इनका प्रयोजन, इनका विकास दार्शनिक जिज्ञासा की तृप्ति मे है। इस जिज्ञासा का क्या रूप था। इस सम्बन्ध मे विचारकों में मत-भेद है। इसलिये हम मतभेद पर नहीं जायेंगे। मान लीजिये अनेकत्व से एकत्व की ओर बढ़ने के हेतु ही मुख्य जिज्ञासा है। तो इसके समाधान के लिए अनेकता को समझना है। अनेकता को समझ कर ही उसमें से ऐक्य का सूत्र खोजा जा सकता है! इसी प्रयत्न के फलस्वरूप अनेक विज्ञानों और कलाओं की उत्पत्ति हुई।समस्त सृष्टि दो भागों में विभक्त है। जड और चेतन। मनोविज्ञान चेतन जगत की समग्र विषमताओं, अनेकताओं और विरोधाभासों का विश्लेषण कर उनमे एकत्व का सूत्र खोजकर मन (चेतन) नामक एक तत्त्व की स्थापना करता है। शेष समस्त भौतिक विज्ञान, समस्त प्रकृति अर्थात् जड तत्त्व का अनेक प्रकार और अनेक परिस्थितियों में अध्ययन, विश्लेषण, करके कुछ ऐसे निश्चित नियमों को स्थापना करते हैं, जो सभी जड पदार्थ मे समान रूप से व्याप्त हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान तथा दूसरे अन्य विज्ञानों की सहायता से सृष्टि की समस्त अनेकता सिमट कर दो तत्त्वों अर्थात् चेतन और जड में सीमित हो जाती है। अब इस जड और चेतन मे एकत्व का सूत्र खोजना दर्शन का काम है।

यद्यपि दर्शन की मुख्य प्रक्रिया अनुभूति की है। अर्थात् तत्त्व की जानकारी नहीं, अनुभूति होनी चाहिये। किन्तु अनुभूत ज्ञान को वैज्ञानिक ढंग से विचारों में आबद्ध करने के हेतु शास्त्रों और विज्ञानों का प्रयोजन है। तत्त्वदर्शियों ने जब अपनी अनुभूति को गूंगे के गुड़ की तरह अव्यक्त और अनिर्वचनीय कहकर सबमें व्याप्त बताया तो उस सबमें उसे खोजने की सामान्य जिज्ञासा समाज में उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। विज्ञानों के उदय का यह भी एक हेतु है। तो इस प्रयत्न के फलस्वरूप पहले जड़ विज्ञान का उदय हुआ। अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभक्त होकर जड़ विज्ञान जब अपने उत्कर्ष पर पहुँचता है, (यद्यपि अभी भी जड़ पदार्थ रहस्यमय ही बना हुआ है)तब कहीं जाकर इस चेतन विज्ञान, मनोविज्ञान का उदय होता है। अब तो चेतन विज्ञान भी अनेक स्वतन्त्र विज्ञानों के रूप में विकसित होने लगा है। किन्तु अभी है, यह प्रारम्भिक स्थिति में ही। सम्भवतः जब यह चेतन विज्ञान भी जड़ विज्ञान की तरह पर्याप्त विकसित हो जायगा तो दर्शन की गुत्थियाँ काफी सुलझ जायेंगी। जड़ विज्ञान की उन्नति के साथ दर्शन की जड़ जगत सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझी हैं।

ऊपर की बात को इस ढंग से भी कहा जा सकता है कि साधकों की अभिव्यक्ति में जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध में अस्फुट और गूढ़ अभिव्यंजना हुई है। उसी अस्फुट और गूढ़ व्यंजना की व्याख्या के फलस्वरूप ही जड़ और चेतन विज्ञानों की उत्पत्ति हुई है। दर्शन में दोनों प्रकार के विज्ञानों का मूल मिलता है। किन्तु खेद का विषय है कि जड़ विज्ञान की अनेक शाखायें इस समय मूल से पृथक् होकर प्रतिकूल दिशा की ओर बढ़ती जा रही हैं। यदि विज्ञान की इस उल्टी गति को रोका न गया तो उस विज्ञान और उसे पैदा करने वाले मानव दोनों का विनाश निश्चित है। सृष्टि के सत्य की उपेक्षा करके हम और हमारी योजनाएँ आगे नहीं बढ़ सकतीं। चेतन और जड़ दोनों विज्ञानों की गति एक साथ जब विश्व की समस्या, एकत्व की समस्या, और

दार्शनिक अनुभूतियों को सुलझाने, समझने की ओर उन्मुख रहती है तो सृष्टि निर्माणोन्मुख रहती है। इस स्वाभाविक गति के विरोधी तत्त्वों को सृष्टि अपने आप नष्ट करती चलती है। उत्पत्ति और लय का यही रहस्य है। अपने स्वाभाविक विकास म योग देने वाले तत्त्वों की उत्पत्ति तथा उसम बाधा पहुचाने वाले तत्त्वों का विनाश यही सृष्टि की लीला और उसकी विकास परम्परा का रहस्य है।

उपर्युक्त पक्तियों में दर्शन और मनोविज्ञान क सम्बन्ध का एक चित्र सामने आ जाता है। उस चित्र मे छोटी-मोटी विशेषताओं को खोज निकालना विज्ञ पाठक का काम है। किन्तु यहाँ दर्शन की वैज्ञानिक प्रक्रिया में ही मनोविज्ञान के योग की बात कही गई है। अनुभूति के क्षेत्र में मनोविज्ञान मदद नहीं करता। उसके लिए नीति शास्त्र है। अनुभूति क लिये वैसे अन्त करण और वैसे वातावरण की जरूरत है। नीतिशास्त्र उसके उपयुक्त अन्त करण और वातावरण तैयार करने का प्रयास करता है

यथार्थ, कल्पना और दर्शन

प्राय: लोगों की यह धारणा बनती जा रही है कि भौतिक विज्ञान और दर्शन के विचार एक दूसरे के प्रतिकूल पड़ते हैं। सम्भवतः ऐसा इसलिए हुआ है, क्योंकि भौतिक विज्ञान नितान्त स्थूल और यथार्थ ज्ञान को अपना विषय बनाता है तथा दर्शन तात्त्विक और अनुमान-जनित ज्ञान का विश्लेषण करता है। यह ठीक ही है। एक का विषय इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सीमित क्षेत्र है और दूसरे का विषय इन्द्रियातीत अनुभूति है। इस प्रकार वस्तुत: ही दोनों दो प्रतिकूल, नितान्त नहीं, धारा की ओर चलते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विज्ञान और दर्शन दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। वस्तुतः वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। भौतिक विज्ञान की चरम परिणिति से दर्शन का उदय होता है। अर्थात् जहां भौतिक विज्ञान का क्षेत्र समाप्त हो जाता है, वहां से दर्शन का प्रारम्भ होता है। भौतिक विज्ञान वस्तु (मैटर) का विश्लेषण करता है और दर्शन उसकी वास्तविक सत्ता को आँकता है। पहला वस्तु के यथार्थ स्वरूप का मूल्यांकन करता है और दूसरा उसके मूल स्वरूप अथवा बीज की खोज करता है। इस तरह विषय एक ही है, पहलू दो हैं। एक ही पन्ने के दो पृष्ठों की तरह यथार्थ और मूल तत्त्व आपस में मिले हुए हैं। एक पृष्ठ पर भौतिक विज्ञान जैसे अनेक स्थूल विज्ञान चिपके हुए हैं और दूसरे पर दर्शन।

'जीवन और दर्शन' शीर्षक प्रकरण में हमने जीवन के सम्पूर्ण पहलू का सम्बन्ध दर्शन के साथ देखा है, यहां हम यथार्थ और दर्शन के सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे। जीवन और यथार्थ में अन्तर है। हमारा जीवन केवल यथार्थ ही नहीं है, वह और कुछ भी है। यथार्थ तो उसका एक अति लघु अंश मात्र है। हमारा वास्तविक जीवन तो

हमारी मानसिक गतिविधि के साथ चिपटा हुआ है। और यह मानसिक गतिविधि यथार्थ से केवल थोड़ी प्रेरणा मात्र ग्रहण करती है। इसका वास्तविक संचालन तो मन की वे स्थितियाँ करती हैं, जो कल्पनाओं, आदर्शों और विचारों से उत्पन्न होती हैं। यह एक दृष्टिकोण है।

जीवन और यथार्थ—यथार्थ और जीवन के सम्बन्धों पर थोड़ा विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि यथार्थ, जीवन के कितने अंशों को प्रभावित करता है या वह जीवन में किस मात्रा तक व्याप्त है। यहाँ यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि जिस प्रकार जीवन का अधिकांश भाग यथार्थ से बाहर भी रहता है, उसी प्रकार यथार्थ का बहुत भाग जीवन के बाहर पड़ता है। यथार्थ के अधिकांश भागों का, वास्तविक भागों का वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दर्शन इनमें ऐसे सम्बन्ध की खोज करता है, जो दोनों का नक्शा ही बदल देते हैं। जीवन का अर्थ किसी व्यक्ति के जीवन से नहीं, अपितु समष्टि के जीवन से है। यह जीवन-सरिता अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। किन्तु वह यथार्थ की थोड़ी धरती पर ही फैल पाती है। उसके दोनों तटों के बाद धरती (यथार्थ) का विशाल वक्षस्थल फैला होता है। दर्शन, जीवन की इस संकीर्णता को व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक यथार्थ और जीवन एकाकार नहीं हो जाते। जीवन-सरिता का स्वरूप धरती (यथार्थ) के स्वरूप से भिन्न और उसी पर टिका हुआ है। नदी, धरती से भिन्न और धरती पर ही आधारित है। ठीक यही अवस्था यथार्थ और जीवन की भी है। जीवन में स्पन्दन है, भावनाओं की भँवर है तथा विचारों का प्रवाह है। किन्तु यथार्थ निस्पन्द है, कठोर है और निरपेक्ष है। वह जैसा है, वैसा है। उसमें तूफान नहीं, परिवर्तन नहीं और तरलता एव सरसता नहीं है। हाँ, उसका स्पर्श पाकर जीवन अपना नित नूतन स्वरूप परिवर्तित करता रहता है। कहीं मन्द, कहीं मन्द, कहीं तूफानी चाल चलता रहता है।

गुलाब में काटे और फूल होते हैं, गाय और गदही दोनों में दूध

होता है। किन्तु हमारा जीवन काटे, फूल और दोनों दूध के साथ अलग अलग जुड़ा हुआ है। काटे, फूल तथा दोनो दूध जैसे हैं, वैसे हैं। किन्तु हमारा जीवन उन पर अपनी विशेषताओं को आरोपित करता है। हमारी मानसिक स्थिति, रुचि, संस्कार आदि यथार्थ के स्वरूप को बदल कर अपने अनुकूल बना लेते हैं। हमारे शरीर का यथार्थ स्वरूप कुछ भौतिक तत्त्वों का सम्मिश्रण मात्र है। किन्तु हमारे जीवन में वह (शरीर) जो पार्ट अदा करता है, वह इस यथार्थ से परे की चीज है। हमारा जीवन उसके साथ एकाकार होकर उसे अपना रूप दे देता है। फलत उस भौतिक पिंड से हमारा एक ऐसा सम्बन्ध बन जाता है, जो वास्तविक भौतिक तत्त्वों के प्रति कभी बन नहीं सकता। कहने का तात्पर्य यह कि यथार्थ का अपना अलग स्वरूप है और जीवन का अपना स्वरूप। किन्तु वे दोनों अभिन्न भी हैं। यथार्थ का अन्त जीवन का अन्त है और जीवन के अन्त होते ही यथार्थ पुन अपने असली रूप में आ जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि यथार्थ के साथ किस तत्त्व के सम्मिश्रण से जीवन का उदय होता है? क्योंकि जीवन को समझने के लिए केवल यथार्थ को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। यथार्थ स्वयं जीवन नहीं है। जिस तत्त्व के सहयोग से यथार्थ जीवन को रूप देता है, उसे समझे बिना जीवन का रहस्य नहीं खुल सकता। दर्शन इसी तत्त्व की खोज करता है। भौतिक विज्ञान शरीर का अध्येता है। और तत्त्व विज्ञान जीवन तत्त्व का। उस तत्त्व का जो यथार्थ में प्रवेश करके चेतना का रूप धारण करता है। ऊपर हमने यह देखने का प्रयास किया है कि उस तत्त्व के पृथक होते ही यथार्थ अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है[१]। ठीक इसी प्रकार यथार्थ से पृथक् होते ही वह तत्त्व भी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है? दार्शनिक इसी स्थिति को मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति तथा परमपद के नाम से पुकारते हैं। यह कहना पागलपन ही है कि जिस शक्ति के प्रवेश

१ जब तक मोक्ष नहीं होता, पंच महाभूत उसका पीछा नहीं छोड़ते। यह पंच महाभूत ही यथार्थ को स्वरूप देते हैं।

से जड़, निस्पन्द यथार्थ सजीव और चैतन्य हो जाता है, वह जीवन के अन्त पर अस्तित्व विहीन हो जाता है। विशेष कर तब, जब कि हम देख रहे हैं कि उस यथार्थ की सत्ता तब भी बनी रहती है। तत्त्व विज्ञानी किसी न किसी रूप में उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि उसकी सत्ता और स्वरूप का अनुभव होते ही यथार्थ की सारी कलई खुल जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार जीवन को समझने का प्रयास करने पर दर्शन का उदय होता है, उसी प्रकार जीवन को ही जानने के लिए यथार्थ का भी अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार यथार्थ और जीवन का सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार दर्शन और जीवन का।

जीवन और यथार्थ के सम्बन्धों पर यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो उनकी अभिन्नता और दृढ़ दिखलाई देती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यथार्थ और जीवन के बीच सीमारेखा नहीं खींची जा सकती, विशेष कर उस समय, जब हम यथार्थ और जीवन के सम्बन्धों पर विचार करते हुए एक तीसरे तत्त्व को पा जाते हैं। क्योंकि यह तीसरा तत्त्व यथार्थ और जीवन की ग्रन्थियों को खोल देता है। फिर तो अब तक की सारी विचार-सरणि उलट-पुलट जाती है। केवल यथार्थ का अध्ययन भी अधूरा है और केवल जीवन का अध्ययन भी अधूरा है। यथार्थ और जीवन का अध्ययन करने पर एक तीसरी ही समस्या उपस्थित हो जाती है। दर्शन इसी समस्या को हल करने का प्रयास करता है। यह समस्या हल हो जाने पर यथार्थ और जीवन का अध्ययन पूरा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि यथार्थ और जीवन का सम्बन्ध चाहे जैसा भी हो, दर्शन की दृष्टि में दोनों का समान महत्त्व है। उसकी दृष्टि में यथार्थ ही जीवन है और जीवन ही यथार्थ है। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि यदि तात्त्विक दृष्टि से यथार्थ और जीवन की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है तो व्यवहार में भी हमें उसकी विशेषता परिलक्षित होने लगती है। दर्शन ऐसी अलीक बातों का प्रतिपादन नहीं

करता जो व्यवहार की कोटि में न आती हों। दर्शन का जो भाग आज हमें अलीक या अव्यवहारिक सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह भी व्यवहार्य हो सकता है। इसीलिये दर्शन की खोजों को जीवनोपयोगी माना गया है, अन्यथा उनका कोई महत्त्व नहीं है। यह सब होते हुये भी प्रत्यक्ष में हमें अपना जीवन यथार्थ से कुछ दूर कटा-कटा सा दिखलाई देता है। यद्यपि यह ठीक नहीं है, तथापि इस पहलू पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि सामान्य जीवन की उन बातों को भुलाया नहीं जा सकता, जो अनेकता, विषमता और भेद-दृष्टि की जन्मदात्री हैं। अभी हमने कहा कि यथार्थ जैसा है, वैसा है, किन्तु जीवन जैसा है, वैसा नहीं रहता। यह भेद-दृष्टि की ही बात है।

हम निवास करते हैं, बीसवीं सदी में और हमारी कल्पना हमें चौबीसवीं और पचीसवीं सदी में घुमाया करती है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के मन के लड्डुओं से वास्तविक जीवन नहीं प्रभावित हुआ करता। किन्तु जो कल्पनाएं जीवन के धरातल पर विकसित होती हैं, उनके सम्बन्ध में यह सिद्धान्त नहीं लागू हो सकता। यद्यपि दिवास्वप्न जैसी अलीक तथा खोखली कल्पनाएँ भी जीवन को प्रभावित करती हैं, भले ही उनसे जीवन शून्य और शिथिल बन जाता हो, किन्तु जीवन के धरातल पर चलने वाली कल्पनाएँ जीवन का निर्माण करती हैं। मानव प्रगति में वह मार्ग-दर्शिका का काम करती हैं। हमारी जीवन परम्परा उनके ही प्रकाश में निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है। बीसवीं सदी के मानव का जीवन-वैभव उन्नीसवीं सदी के मानव-मस्तिष्क मे अपनी रूप रेखा तैयार कर चुका था। मानव जीवन की परम्परा का अध्ययन करने पर यह भली भाति ज्ञात हो जाता है कि वह किस प्रकार कल्पनाओं और आदर्शों के झूले पर झूलती हुई इस रूप में आई है। कहने का तात्पर्य यह कि जीवन 'जैसा है, वैसा है,' के मार्ग पर चलकर जीवन नहीं रह सकता। यथार्थ और जीवन में यही अन्तर है। इस अन्तर का कारण स्पष्ट है। हमारी बुद्धि नितनूतन

परिधान बदला करती है और उसके रूप पर मुग्ध होकर यथार्थ अपनी शत-शत प्रतिमाओं में प्रतिभासित होकर जीवन को रूप देता चलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषमताओं, अनेकताओं अथवा भेद-दृष्टि का कारण हमारी बुद्धि ही है। इस बुद्धि का वैभव कल्पनाओं में निखार पाता है इसलिये कल्पना के सम्बन्ध में थोडा विचार कर लेना आवश्यक है। साथ ही यह देख लेना है कि यथार्थ का उसके साथ क्या सम्बन्ध है?

यथार्थ और कल्पना—यथार्थ और कल्पना में अन्तर होते हुये भी कल्पना यथार्थ के निकट ही रहती है। कल्पना का तात्पर्य केवल मन की उड़ानें ही नहीं है। जिन सम्भावित घटनाओं अथवा क्रिया—कलापों का हम किन्हीं आधारों पर पहले ही निश्चय कर लेते हैं, वे भी घटित होने के पहले तक कल्पना की ही कोटि में गिनी जाती हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसी कल्पनाएँ यथार्थ की भूमि पर ही उत्पन्न होती हैं। उनका रूप यथार्थ से निर्मित होता है। हमारे विचार योजनाएँ तथा आदर्श कल्पना की ही कोटि में आते हैं। वस्तुत: मानव बुद्धि के अधिकांश वैभव को हम कल्पना की सीमा में घसीट सकते हैं। इस प्रकार कल्पना का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। मानव-बुद्धि यथार्थ के आधार पर स्वयं के स्फुरण से ऐसे संसार की सृष्टि करती है जो यथार्थ से भिन्न होती है। यह संसार ही हमारे जीवन को रूप देता है। इसीलिये यह स्वीकार किया जाता है कि जीवन के निर्माण में कल्पनाओं का बहुत बड़ा हाथ है। यह तो कल्पना का एक व्यापक रूप हुआ। हमारी समस्त इन्द्रियाँ किसी न किसी रूप में इस कल्पना का पोषण करती हैं। इन्द्रियाँ भी तो यथार्थ की ही एक शाखा हैं।

जो कल्पना निर्मूल होती है, उसमें भी यथार्थ ही ओत प्रोत रहता है। हां, कल्पना केवल उसका संयोजन दूसरे प्रकार से कर देती है। बिना यथार्थ के कल्पना का उदय हो ही नहीं सकता। सच बात यह है

कि यथार्थ को उलट फेर कर एक नवीन दृष्टिकोण से देखने में ही कल्पना की सार्थकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि कल्पना यथार्थ को जीवन देती है, उसकी अनेक विशेषताओं और स्थितियों पर प्रकाश डालती है। यथार्थ मैटर है और कल्पना उसे संवारने वाली है। यथार्थ पत्थर है और कल्पना उसे जीवन में ढालने वाली कला है। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन यथार्थ का ही एक रूप है। हाँ, इस रूप के निर्माण में एक कला का हाथ है। इस कला को हम मानव की कला में देख सकते हैं। यद्यपि विश्वकला की अधिष्ठातृ देवी की खोज करना सरल नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि अभी हमने जिस कल्पना की चर्चा की है, वह विश्वकला की ही एक विभूति है। उसके एक अंश का ही प्रस्फुरण हम मानव की कल्पना शक्ति में पाते हैं। वस्तुतः हमारा जीवन ही वह कलाकृति है, जिसमें विश्वकला की गरिमा देखी जा सकती है।

सृष्टि को हम दो रूपों में देखते हैं। एक रूप जड़ और दूसरा चेतन है। इस जड़-चेतन मय संसार को जिस कलाकार ने निर्मित किया है उस महान कलाकार की खोज करना दर्शन का लक्ष्य है। अभी तक हम यथार्थ नाम से जिस तत्त्व की ओर संकेत कर रहे थे, उसको ही साज सँवार कर कलाकार ने संसार के रूप में परिवर्तित किया है। किन्तु यह इस कलाकृति की विशेषता है कि उसका अंगभूत मानव उस कला के रहस्य को समझने की चेष्टा करता है और बहुत अंशों में वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो जाता है। अनेकानेक विज्ञान इसके परिणाम हैं। भौतिक विज्ञान और दर्शन भी इसी में आते हैं। मानव द्वारा उद्भावित विविध कलाएँ भी इसी ओर सचेष्ट हैं। इसीलिए कुछ विचारक जीवन को ही एक कला मानकर चलते हैं। वस्तुतः हमारा जीवन एक कलाकृति से अन्य है ही क्या ! मानव अपनी छेनी के द्वारा एक ऊबड़-खाबड़ पत्थर को रूप प्रदान करता है। इसमें और हम में क्या अन्तर है ! केवल वाणी का ही तो। इस पत्थर के रूप में भी हमारी ही

तरह विचार, भावना, हर्ष, शोक, क्रोध, मोह, आदि की तरंगें देखी जा सकती हैं। जिसमें यह न हो, समझना चाहिए कि वहाँ कला नहीं है। वस्तुतः कलाकार अपने आभ्यन्तरिक रूप को ही छेनी से माध्यम से उस पत्थर में उडेलता है। इसी में कला की सार्थकता है। तो क्या यह सम्भव नहीं है कि यह जो सृष्टि के रूप में एक कलाकृति हमारे सम्मुख उपस्थित है (जिसमें हम भी हैं) उसमें कलाकार का स्वरूप न होगा, अवश्य होगा। दर्शन इस रूप की खोज करता है।

उपर्युक्त विवेचना में यथार्थ और कल्पना के सम्बन्धों पर किंचित् प्रकाश पड चुका है। वस्तुतः कला में कल्पना को जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान यथार्थ को जीवन के रूप मे बदलने में भी कला को प्राप्त है। यह यथार्थ, जीवन या सृष्टि के रूप मे जो इतना आकर्षक, मोहक अथवा भेद भरा लगता है, वह सब कल्पना की ही करामात है। इसी कल्पना को दार्शनिक दूसरे रूप मे, माया या ऐसी ही दूसरी उपाधि से विभूषित करते हैं। यह सच है कि यदि हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो यह लगेगा कि हमारी धारणा, भावना, विचार तथा 'तू-मैं' की भेद भरी दृष्टि में कल्पना बड़ी दूर तक फैली हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि यथार्थ के रूप में उपस्थित जिस जीवन को समझने की चेष्टा दर्शन करता है, उसमें *मानव-वासना कूट कूट कर भरी हुई है।* वह वासना ही कल्पना की देन है। फिर दर्शन का काम बिना इस वासना अर्थात् मानव-बुद्धि-विलास अथवा कल्पना का अध्ययन किए आगे नहीं बढ सकता। आज मनोविज्ञान नाम के जिस नवीन तथा स्वतन्त्र विज्ञान का उदय हुआ है, वह इस अध्ययन का ही विकसित रूप है। यद्यपि मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है और इसीलिए उसने इस सम्बन्ध में दर्शन की अपेक्षा बहुत अधिक प्रकाश डाला है, किन्तु अपने काम भर का अध्ययन दर्शन ने पूरा किया है। दर्शन में मनोविज्ञान का जितना अंश सहायक हो सकता है, उतने का पूर्णतः विकास दर्शन में हो चुका है। इस सम्बन्ध मे स्पष्ट विवेचना हम दर्शन

नीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान शीर्षक प्रकरण में कर चुके हैं। यहाँ इस ओर केवल संकेत मात्र करना अभीष्ट है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि अभी हम कल्पना नाम से जिस विशेष तत्त्व की विवेचना कर रहे थे, वह मनोविज्ञान की कल्पना है। यद्यपि मनोविज्ञान की कल्पना उसकी सीमा में आती है। दर्शन और कल्पना के सम्बन्ध पर विचार कर लेने से विषय और साफ हो जायगा।

दर्शन और कल्पना—अभी हमने देखा कि यही कल्पना कला में काम करती है, जीवन में काम करती है और संसार के निर्माण में काम करती है। यह वही व्यापक तथा अगम्य शक्ति है। इसे मैं 'माया' नहीं कह सकता, क्योंकि यह नाम कला के क्षेत्र में प्रिय नहीं लगेगा। इसे मैं ईश्वरीय शक्ति नहीं कह सकता, क्योंकि स्पष्ट ही वह बहुत अंशों तक हमारी ही शक्ति-सी लगती है। इसे मैं 'मन के लड्डू' तो हरगिज नहीं स्वीकार कर सकता, क्योंकि उसका विपुल निर्माण-कार्य उसकी दृढ़ सत्ता को प्रमाणित कर रहा है। इन्हीं सब कारणों से उसे मैंने कल्पना नाम से पुकारा है। हाँ, तो जैसे यथार्थ को समझने के लिए कल्पना की जरूरत है, उसी प्रकार दर्शन की विचार-प्रक्रिया में भी कल्पना की जरूरत है। कलाकृति को समझने के लिए कलाकार के समान ही कल्पना शक्ति की आवश्यकता है। इसीलिए कला का पारखी भी एक सीमा तक कलाकार कहलाता है। चूंकि यह यथार्थ अपने मूलरूप में नहीं, एक कलाकृति के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है, इसलिए इसे समझने के लिए कल्पना की आवश्यकता है।

कुछ लोगों का दर्शन पर यह आक्षेप है कि दर्शन केवल बुद्धि-विलास और कल्पनाओं में भ्रमण करने की चीज है। उसे कल्पना लोक की विचारसरणि के नाम से भी पुकारा जाता है। यह आरोप इसीलिए सम्भव हो सका है, क्योंकि कल्पना दर्शन की विचारसरणि में काफी दूर तक हाथ बटाती है। लेकिन जो लोग यह आरोप लगाते हैं, वे कल्पना को सामान्य रूप में ही देखते हैं। कलाकार के लिये, कला में प्रयुक्त

होने वाली कल्पना का जितना महत्व है, उतना ही एक तत्वविज्ञानी के लिये दर्शन में प्रयुक्त होने वाली कल्पना का महत्व है। कला की कल्पना यदि नवीन और यथार्थ सृष्टि कर सकती है, तो दर्शन की कल्पना मूलतत्व की खोज भी कर सकती है। यदि कलाकार की कल्पना को अनुभूति का भाव-प्रवण पहलू आलोकित करता रहता है तो दर्शन की कल्पना को अनुभूति का विचार-प्रवण पहलू प्रेरित करता रहता है। इसीलिये कला में सत्यम्, सुन्दरम् के आवरण में रहता है और दर्शन में सुन्दरम्, सत्यम् के आवरण में रहता है। अनुभूति की छाया में बैठकर ही दर्शन की कल्पना अपने ताने-बाने फैलाया करती है। दर्शन में ऐसी कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है, जिसे अनुभूति की कसौटी पर कस न लिया गया हो। इस रहस्य से अनभिज्ञ रहने वाले ही उपरले विचारक दर्शन और कल्पना के सम्बन्धों में गलत धारणा बना लेते हैं।

कलाकार या कवि को हम दो भागों में बाटते हैं। एक में कलाकृति या कविता के निर्माता आते हैं और दूसरे में उसे परखने और समझने वाले आते हैं। समालोचक या विवेचक समझने वालों की ही श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार भौतिक वैज्ञानिकों को भी हम दो भागों में बाटते हैं। एक वर्ग प्रकृति की शक्ति की खोज करने वालों का है। और दूसरा वर्ग उस खोज का विविध कल्याणमयी या विध्वसकरी योजनाओं मे प्रयोग करने वालों का है। इसी प्रकार दार्शनिकों के भी दो वर्ग हैं। बड़े बड़े पोथन्ने लिखने वाले अधिकाश दार्शनिक समझने वालों की कोटि मे आते हैं। वे केवल आलोचक मात्र हैं। इसी प्रकार कल्पना के स्वरूप या उसके प्रयोग की शैली के भी दो रूप हो जाते हैं। कवि और उसके आलोचक की कल्पना में अन्तर है। इसी प्रकार बुद्ध, गाधी, कबीर आदि की कल्पना और इनके सिद्धान्तों की व्याख्या करने वालों की कल्पना में काफी अन्तर है। पहले की कल्पना अनुभूति पर खरी उतर कर यथार्थ का भी यथार्थ बन चुकी है और दूसरे की कल्पना पहली कल्पना की छाया मात्र है। छाया में भी प्रकाश होता है, किन्तु वह

अन्तर्निहित होता है और मूल कल्पना में वह उदीत रहता है।

हाँ तो, जैसे कवि की अनुभूति को हृदयगम करने के लिये उसी की तरह सवेदनशील होने की आवश्यकता है, उसी प्रकार दर्शन की अनुभूति को समझने के लिये उसी की तरह अन्वेषण प्रवण प्रतिभा की आवश्यकता है। सवेदना, अन्वेषण शक्ति आदि तत्त्वत म कल्पना के अतिरिक्त और है क्या ? कवि की भावनाओं से साथ मिलकर हमारी भावना जिस साधारणीकरण का सम्पादित करती है, उसम हमारी कल्पना शक्ति का अप्रतिम योगदान होता है। वस्तुत हमारा ही कल्पना-विकसित होकर कवि की कल्पना से साथ साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करती है। दर्शन की गुत्थियों को सुलझाने म भी कल्पना का यही महत्त्व है।

यथार्थ और दर्शन—उपयुक्त विवेचन के फलस्वरूप यथार्थ और दर्शन के सम्बन्धों पर विचार करना सरल हो गया है। अभी तक विविध प्रसगों पर यथार्थ की जो आशिक चर्चा हुई है, उससे उसका स्पष्ट रूप सामने नहीं आया है। इसलिये यथार्थ क्या है ? इस पर कुछ स्पष्ट विवेचन आवश्यक है।

यथार्थ शब्द अपने में बहुत व्यापक अर्थ को सजाये हुए है। उसका अपना एक इतिहास है। मानव की विचारधारा का क्रमिक विकास उसके अर्थ विकास मे भी सन्निहित है। उस पर दृष्टिपात करने से हम देखेंगे कि मूलत एक ही यथार्थ विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त होकर अनेक रूप धारण कर चुका है। यथार्थवादी साहित्य के यथार्थ और भौतिक यथार्थ में अन्तर है। साहित्य का यथार्थ व्यजित है, और भौतिक यथार्थ दृष्ट है। भौतिकवादी, साहित्य के यथार्थ को कल्पना का यथार्थवादी दृष्टिकोण कहेंगे और साहित्यिक यथार्थवादी, भौतिक यथार्थ को परिवर्तन शील मानकर उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। किन्तु दोनों ही अपने दृष्टिकोण को यथार्थ कहेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि सभी क्षेत्र अपने अपने क्षेत्र मे एक ऐसे तत्त्व को सत्य मानते हैं, जो

दूसरे क्षेत्र का 'सत्य' नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यथार्थ का सत्य अर्थ सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु सत्य की यह खोज जिस क्षेत्र विशेष तक सीमित रहती है, उसी के अनुरूप वह आंशिक होती है। इस सम्बन्ध में यदि हम स्वप्न और जाग्रत स्थितियों के यथार्थ पर ध्यान दें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। स्वप्नकाल में हम स्वप्न-स्थिति को यथार्थ मानते हैं और जाग्रत काल में जाग्रत-स्थिति को यथार्थ और स्वप्नस्थिति को अयथार्थ मानते हैं। यही नहीं, सुषुप्ति काल में तो दोनों ही स्थितियाँ अयथार्थ हो जाती हैं। और, चौथी स्थिति मोक्ष (यदि कोई ऐसी स्थिति आती हो) काल में तो पूर्व की तीनों ही स्थितियाँ अयथार्थ हो जाती हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि किसे यथार्थ मानें। मानने का दो तात्पर्य हो सकता है। एक तो यह कि आप कह रहे हैं, इसलिये मान लेता हूँ। और दूसरा यह कि अनुभव कर रहा हूँ, इसलिए मानना पड़ रहा है। पहले में केवल रजामन्दी है और दूसरे में विवशता है। हम जिस क्षेत्र में रहते हैं, उस क्षेत्र के दायरे में रहने वाले यथार्थ को ही 'यथार्थ' मानने के लिये हम विवश हैं। क्योंकि उसी का अनुभव हमें होता है। इस ऊहापोह से यह मथितार्थ निकला कि सभी यथार्थ अपने क्षेत्र में वास्तविक यथार्थ हैं। इसलिये कौन सा यथार्थ वास्तविक यथार्थ है, यह प्रश्न ही बेकार हो जाता है।

हम जिस स्वप्न को नितान्त मिथ्या मानते हैं, मनोवैज्ञानिक उस स्वप्न में भी यथार्थ का उतना ही दर्शन करता है, जितना जाग्रत अवस्था में। उसकी दृष्टि में दोनों की स्थिति समान है। जाग्रत भी मन का खेल है और स्वप्न भी। इसलिये एक ही खिलाड़ी के दो खेलों में यथार्थ का अन्तर नहीं, प्रकार का अन्तर हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भी क्षेत्र के यथार्थ को अयथार्थ कहने की हिम्मत हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि उस क्षेत्र की सत्ता वर्तमान है। दर्शन का काम किसी भी क्षेत्र के यथार्थ को झूठा ठहराकर किसी कल्पनातीत यथार्थ की प्रतिष्ठा करना नहीं है। बल्कि इन सभी यथार्थों

का समन्वय करने ही वह एक पूर्ण यथार्थ की स्थापना करता है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सत्य की खोज के लिये मानव ने जो प्रयत्न आज तक किये हैं, उन समस्त प्रयत्नों से लाभ उठाकर पूर्ण सत्य की खोज का अन्तिम अभियान दर्शन करता है।

ऊपर हमने जीवन, कल्पना आदि के साथ यथार्थ के जिस स्वरूप की चर्चा की है, वह कहा रहा विरोधी लगता है। क्योंकि यथार्थ का विश्लेषण करने पर उसका जो विविध रूप उपलब्ध होता है वह ऐसा ही है। दार्शनिक दृष्टि इन विविधताओं के बीच ऐक्य का सूत्र खोजती है। दर्शन की यही विचार प्रक्रिया है। दर्शन की विचार सरणि में केवल जड़ अथवा भूत ही नहीं, साहित्य की कल्पना, जीवन की विषमता भी आती है। यह सब अपने अपने क्षेत्र के यथार्थ हैं। एक बात यह अवश्य है कि अनेक तत्त्ववेत्ताओं ने यथार्थ के इन विविध रूपों में किसी एक रूप को ही अधिक महत्त्व दिया है। कपिल की दृष्टि म जड प्रकृति का जो महत्त्व है, शकर की दृष्टि में वह नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिकों में भी अनेक ऐसे विचारक हो चुके हैं जो भौतिक यथार्थ को ही महत्त्व देते हैं। इनमें ह्यूम तथा स्पेन्सर आदि विचारकों को लिया जा सकता है। इनकी भौतिकवादिता को चुनौती देते हुये इङ्गलेण्ड के आधुनिक विचारक ग्रीन ने आत्म तत्त्व की प्रतिष्ठा की थी। कहने का तात्पर्य यह कि यथार्थ की विविधताओं के कारण तत्त्व-विचारकों में भी काफी मतभेद रहा है, किन्तु सभी यथार्थों के समन्वय करण की ओर सभी की प्रवृत्ति समान रूप से पाई जाती है। इसलिए यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि दर्शन यथार्थ के एकीकरण का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन में यथार्थ और कल्पना का स्वरूप तथा इनका दर्शन के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो चुका है। समस्त विवेचन को सूत्र रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यथार्थ साध्य है, कल्पना साधन है और दर्शन साधक है।

दर्शन और धर्म

दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत उलझे हुये हैं! उलझनों का यह तात्पर्य नहीं है कि वे अस्पष्ट हैं, अपितु वे सम्बन्ध इतने प्रगाढ़, स्वाभाविक एवं ऐकान्तिक हैं कि उनका पृथक् करण किसी भी दशा में सम्भव नहीं है। पश्चिम में दर्शन और धर्म को अलग-अलग मानकर जो विचारधारा पल्लवित हुई है, वह दर्शन और धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में स्वीकार करती है, इस विचारधारा में 'दर्शन' मानव की जिज्ञासा को शान्त करने का बौद्धिक प्रयत्न मात्र रह गया है और धर्म भी एक विशिष्ट रीति-नीति द्वारा परिचालित 'मत' विशेष माना जाता है। यही कारण है कि वहां दर्शन और धर्म दो भिन्न-भिन्न विकास-पथ के सूचक हैं! किन्तु भारतीय विचार-धारा 'दर्शन' और 'धर्म' के स्वरूप का विकास नितान्त अभिन्न रूप से करती है। यहां दर्शन की उपयोगिता धर्म की सार्थकता में है। और धर्म की उपयोगिता 'दर्शन' के पर्यवसान में है! इस प्रकरण में हम दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुये उसके भारतीय स्वरूप पर समुचित प्रकाश डालेंगे! भारतीय विचारधारा में 'दर्शन' शब्द से जिस विज्ञान या विद्या की ओर संकेत किया गया है। उसका व्यावहारिक परिणाम ही धर्म है। और इसी प्रकार भारतीय शब्दकोष में 'धर्म' के द्वारा जिस व्यवहार की ओर संकेत किया गया है। उसका सारा विधान 'दर्शन' की उच्च मान्यताओं के ऊपर ही आधारित है। यद्यपि दोनों का अपना अपना क्षेत्र अलग है, किन्तु जीवन के मूलतत्त्व को पूर्ण बनाने में दोनों का समान महत्व है। यदि दर्शन हमारे स्वरूप के सत् पहलू का उद्घाटन कर हमारी ज्ञान पिपासा को शान्त करता है, तो धर्म हमारे वास्तविक कर्तव्य का निर्धारण और हमारी श्रद्धा का आदर्श रूप निश्चित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की समष्टि की पूर्णता दर्शन और धर्म के संयुक्त विकास में ही सम्भव है। कोरा दर्शन बौद्धिक कसरत है और अन्धविश्वास पर आधारित धर्म पाखण्ड तथा मिथ्याचरण है। इसलिये यदि धर्म के बिना दर्शन निष्प्रयोजन है तो दर्शन के बिना धर्म कुएं में गिरने के सदृश है।

दर्शन के द्वारा हम सत्पदार्थों की छानबीन करते हैं। इस परिवर्तनशील संसार के मूल में जो एकत्व की अविरल धारा सूक्ष्म रूप से प्रवाहित हो रही है, उसका उद्घाटन दर्शन का एक लक्ष्य है। दर्शन द्वारा उद्घाटित सत्य का वास्तविक विनियोग धर्म करता है। दर्शन एक विज्ञान है और धर्म तदनुकूल आचरण। किन्तु यह आचरण शासन तथा लोभ, मोहादि के द्वारा संचालित नहीं होता, अपितु 'दर्शन' द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में यह आचरण नितान्त स्वाभाविक और निष्कलुषभाव से सम्पन्न होता है। दर्शन के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति हमें होती है या जिस 'सत्य' का साक्षात्कार हमें होता है, उसे जीवन में उतारने का काम धर्म करता है! प्राप्त ज्ञान का उचित विनियोग ही तो धर्म है। जैसे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का ज्ञान प्राप्त करके इस सत्य का उपयोग विज्ञान का प्रयोगात्मक पहलू करता है और तदनुसार वह अनेक प्रयोगों के बल पर जीवनोपयोगी यन्त्रों एवं अन्य साधनों का निर्माण करता है। वैसे दर्शन द्वारा प्राप्त मूल सत्य के आधार पर धर्म व्यक्ति और समष्टि का आचरण तथा कर्तव्य निर्धारित करता है। जैसे अणुशक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेना मात्र कुछ अर्थ तब तक नहीं रखता, जब तक कि उस 'शक्ति' का उपयोग मानव जीवन को सबल, स्वस्थ और पूर्ण बनाने में न हो। उसी प्रकार संसार के मूलतत्त्व या चरम सत्य का ज्ञान तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उस सत्य पदार्थ का कोई जीवनोपयोगी पहलू हम न खोज सकें। धर्म सृष्टि के चरम सत्य को जीवन की उपयोगिता के लिये सार्थक बनाता है। दर्शन की सूक्ष्म निरीक्षण शैली एवं गम्भीर चिन्तना तभी पूर्ण एवं सफल मानी जाती

है जब उसका पर्यवसान कर्तव्य के निर्धारण एव जीवन को सरस बनाने में हो। ससार म व्यक्ति को अपना कर्तव्य निर्धारण करने म बडी कठिनाई का अनुभव होता है। दर्शन द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान ही इस ओर हमारी सहायता करता है। बात यह है कि जब तक हमें किसी प्रकार की जानकारी नही प्राप्त होती तब तक हम किसी दृढ निश्चय पर नही पहुच सकते। *उदाहरण के लिए अंधेरी रात में पथ पर पडी हुई रस्सी'* को देखकर हमारे मन म सन्देह उत्पन्न होता है कि यह सर्प है अथवा रस्सी। इस सन्देह की स्थिति मे हम 'किं कर्तव्य विमूढ' रहते हैं। यदि हमने ठीक से जाच पड़ताल नही की और दूर से उसे 'सर्प है' ऐसा निश्चय करके भाग खडे होते है या लाठी से उसे पीटना आरम्भ कर देते हैं, तो यह हमारी मूर्खता ही कही जायेगी। इस प्रकार के अनेक अवसर पग-पग पर ससार मे आते हैं, जब हमें वस्तुस्थिति की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जानकारी के बाद ही तत्सम्बन्धी अपने कर्तव्य का निर्धारण सम्भव है। 'दर्शन' हमें जानकारी देता है और धर्म उस जानकारी के आधार पर हमारे वास्तविक कर्तव्य का निर्धारण करता है।

वस्तुत यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो दर्शन और धर्म का आधार एक ही दिखलाई देता है। मानव प्रयत्न की यह दोनों दो दिशाय हैं। मानव शक्ति जिस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये दर्शन की ओर उन्मुख होती है, उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर धर्म की व्यवस्था भी करता है। दर्शन मे वह शक्तिबुद्धि प्रधान होती है। इसलिये उसका फल ज्ञान स्वरूप होता है और धर्म मे वह शक्ति हृदय प्रधान होती है। इसलिए उसका फल श्रद्धा रूप होता है। 'दर्शन' का फल ज्ञान है और धर्म का फल श्रद्धा है। कहने का तात्पर्य यह कि धर्म और दर्शन के रूप मे मानव शक्ति, एक तत्त्व के दो भिन्न पहलुओं को आत्मसात् करती है। दर्शन और धर्म दोनों की प्रेरक भावना एक ही है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि यह ससार मरणधर्मा है। अर्थात्

यहा कोई चीज स्थायी नहीं है। अनेक दार्शनिकों ने तो इसीलिए ससार को मिथ्या और दु खपूर्ण बताया है। किन्तु सच यह है कि व्यवहार दृष्टि से ससार क्षणभगुर अवश्य है, किन्तु सत्ता की दृष्टि से प्रवाह रूप म यह नित्य और सत्य है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति चरम सत्य और नित्य पदार्थ से ही होती है। परिवर्तनशील होने क कारण ससार को अनित्य उसी प्रकार कहा जा सकता है जिस प्रकार विनाशवान घट, शकोरा आदि। विभिन्न घटों म वतमान मिट्टी सत्य है। उसी प्रकार ससार का मूलतत्त्व सत्य और नित्य है। कुछ दार्शनिकों ने ससार को ब्रह्म का ही परिणाम माना है और कुछ न विवर्त कुछ भी हो, किन्तु ससार की सत्ता मान कर ही हमारी विचार सरणि पल्लवित होती है। इसीलिए जो लोग ससार को मिथ्या या भ्रम मानते हैं वे भी व्यवहार मे इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इस ससार में नित्य, सत्य पदार्थ का अन्वेषण दर्शन करता है। नित्य की खोज, सत्य पदार्थ की खोज का क्या रहस्य है? इस पर तनिक विचार कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दार्शनिक प्रवृत्ति का मूलाधार मानव की कौन सी भावना है। इस विवेचन में हम देखेंगे कि दार्शनिक और धार्मिक दोनों प्रवृत्तियों का आधार मानव की एक ही भावना है। यही कारण है कि दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। या या कह कि दोनों एक ही प्रयत्न के दो पहलू हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर ने इस ससार में एक आश्चर्य का सकेत करते हुए कहा है कि प्रतिदिन यहाँ क जीव मरते चले जाते हैं फिर भी बचे हुये लोग जीवित रहने की इच्छा करते हैं। यह एक महान् आश्चर्य है?

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमत परम्॥'

मेरी दृष्टि से इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। खूब अच्छी तरह से हम यह जानते हैं कि 'एक न एक दिन हम यहा से प्रस्थान कर देंगे।' किन्तु अन्तर में यह विश्वास जमता नहीं। हमारा

कार्यकलाप इतना व्यापक तथा दूरगामी होता है, हमारी योजनाएँ इतनी लम्बी होती हैं। लगता है कि हम अजर, अमर होकर आए हैं। बात यह है कि हमारी आत्मा तो अमर अजर है ही,इसलिए हमारी मूल-प्रवृत्ति अमरत्व की ओर रहती है। 'अमरत्व' की यह दृढ़ भावना आत्मप्रेरित होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक और सत्य है। इसलिए इसमें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं।[1] यदि अमर हो जाने की, सदा सर्वदा सुखपूर्वक वर्तमान रहने की स्वस्थ अभिलाषा मानव में न होती तो आज उसकी यह जो सार्वत्रिक सत्ता और प्रगाढ़ सभ्यता दृष्टिगोचर हो रही है, वह न होती। वस्तुतः अमर रहने की कामना, मानव समष्टि के विकास का मूल कारण है। यही कारण है कि व्यक्ति मानव मर जाता है, किन्तु वह मानव जाति को कुछ ऐसी चीजें दे जाता है, जिससे वह अमरत्व की ओर उन्मुख रहती है। मानव सभ्यता का विकास एक-एक व्यक्ति को अमरत्व की कामना से प्रेरित कर्तव्यों का पुंजीभूत रूप है। कहने का तात्पर्य यह कि हम भले ही यह देखते रहते हैं कि यहाँ संसार में कोई सर्वदा नहीं रह सकता, तथापि अन्तस्तल में हमारी भावना 'अमरत्व' की अभिलाषा से पूर्ण रहती है। इस अभिलाषा का स्वस्थ विकास ही दर्शन का सूत्रपात करता है।[2] यहाँ

---

१. कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से जिस तृतीय वर की याचना की है, उसमें नचिकेता की भावना 'अमरत्व' की खोज करती हुई पाई जाती है।

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ कठो० १, १, २०'

इस पर यमराज नचिकेता को अन्य प्रलोभन देकर इस वर को न मांगने का आग्रह करते हैं। यम के प्रलोभन को नचिकेता जिस दृष्टि से देखता है, उससे यह बात और पुष्ट हो जाती है कि वह अमरत्व को चाहता है।

'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। कठो० १, १, २६'

• बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य से मैत्रेयी भी इसी प्रकार का वर मांगती है 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्।'

२. क्योंकि दर्शन की खोज 'अमरत्व' प्रदान करती है।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि न केवल दर्शन और धर्म की उत्पत्ति अपितु, मानव की शक्ति का बहुमुखी प्रयत्न इस अभिलाषा के विविध विकास का फल है। मानव अपने तप. पूत कर्तव्य के द्वारा अमर हो जाना चाहता है।

लोक में अपनी कर्तव्यनिष्ठा का उत्तम पालन करके वह लौकिक दृष्टि से अमर होता है और दर्शन द्वारा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके वह पारमार्थिक रूप में अमर हो जाता है।[1] दर्शन यदि मूल सत्य के रूप में हमें नित्य बनाता है, तो धर्म इस संसार में हमें अजर, अमर बनाता है। कहने का तात्पर्य यह कि दर्शन और धर्म दोनों को प्रेरणा देने वाली मानव की एक ही प्रवृत्ति है। इसलिए दोनों में परस्पर उतनी ही एकता है, जितनी एक, एक ही दिशा की ओर और एक ही लक्ष्य पर पहुँचने वाले दो समान पथों में होनी चाहिये। जीवन रूपी सरिता के दो किनारे धर्म और दर्शन के रूप में स्थित हैं। किन्तु ये कूल आपस में भी मिलते हैं। सरिता के दोनों कूल कभी एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। दर्शन का एक छोर 'सत्यज्ञान' से मिला हुआ है और दूसरा छोर धर्म से। और धर्म का एक छोर जीवन से मिला हुआ है, दूसरा सत्यज्ञान से। इस प्रकार एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ दर्शन और धर्म एक बिन्दु पर मिलते हैं।[2]

१—अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू। रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अथर्व० १०,८,४४

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ कठो० १, ३, १५
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ कठो० २, १, २,

२—धर्मात्सुखं च ज्ञानं च यस्मादुभयमाप्नुयात्, तस्मात्सर्वं परित्यज्य विद्वान् धर्मं समाचरेत्। स्कन्द पुराण
धर्मे पृष्टे मनुर्नं हा जगतः कारणं प्रभुम्।
आत्मज्ञानं परं धर्मं विज्ञेति व्यक्तं सुखं शात्॥ मन्वर्थ मु० १, ५

यह विन्दु ही जीव का चरम साध्य है। लोक में साधारण व्यक्ति 'अमरत्व' की जो रूपरेखा बनाए रखता है, वह मोहग्रस्त है। अहं की परिभाषा के अनुसार ही हमारे अमरत्व की परिभाषा भी दूषित है। दर्शन अमर हो जाने की उदात्त कामना को स्वस्थ और निर्दोष बनाता है। और धर्म इस स्वस्थ कामना की पूर्ति के लिए उत्तम, स्वस्थ और सफल कर्तव्य का निर्धारण करता है। जब तक यह निश्चित नहीं है कि हमारा वास्तविक जीवन क्या है या हमारी वास्तविक सत्ता क्या है, तब तक हम किस जीवन और किस सत्ता को बनाये रखने का प्रयत्न करें। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जो कार्य करता है, उसका स्वस्थ और सत्य पहलू धर्म और दर्शन में है। *यद्यपि भारतीय विचारकों ने भारतीय दर्शन का उदय* त्रिविध ताप को दूर करने के प्रयत्न में ही माना है[1]। किन्तु यदि इन त्रिविध तापों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि तीनों ताप इसलिए ताप हैं, क्योंकि वे मानव की मूल कामना 'अमरत्व' पर आक्रमण करते हैं। संसार में दैहिक, दैविक और भौतिक जितने भी दुःख हैं, वे हमारी अमरत्व की भावना पर आघात स्वरूप जान पड़ने के कारण ही दुःख हैं। कहने का तात्पर्य यह कि दुःखनिवृत्ति का अर्थ ही है 'हमारी सत्ता पर किसी प्रकार का आक्रमण न होना' इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शन का मूल उद्गम अपनी सत्ता को *अक्षुण्ण बनाए रखने के प्रयत्न में ही हुआ है। इसे ही हम प्रकारान्तर*

१—सांख्य का पहला सूत्र और पहली कारिका इस प्रकार है :

अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिः अत्यन्त पुरुषार्थः॥ सांख्यसूत्र १

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

दृष्टे सा पार्थाचेत् न स्यान्नात्यन्ततोभावात्॥ सांख्यकारिका १

योग का एक सूत्र इस प्रकार है :

'परिणामताप संस्कारदुःखैः गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः २, १५'

से अपनी पूर्ण प्रभुसत्ता अर्थात् 'स्वराज्य' की प्राप्ति का प्रयत्न भी कह सकते हैं। धर्म की उत्पत्ति का भी यही कारण है। धर्म का लक्ष्य भी इसी ओर है[१]।

लोक में कुछ सीमित भावनाएँ ही हमारे समस्त व्यवहार का सचालन करती हैं। मनोविज्ञान ने कुछ मूलप्रवृत्तियों की खोज की है, जिनके ऊपर हमारा समस्त व्यवहार टिका हुआ है। यद्यपि इनकी सख्या के सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है, किन्तु मैगडूगल का वर्गीकरण अधिक सुलझा हुआ है। इसके अनुसार १—भय २—युयुत्सा ३—जिज्ञासा ४—रचना ५—स्वत्व ६—घृणा ७—आत्मगौरव ८—आत्म-हीनता ९—काम १०—सन्तान रक्षा ११—सहयोग १२—संग्रह ये बारह मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इनका सम्यक् विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव की 'अमरत्व' की भावना पर ही यह सब आधारित हैं। कुछ मूल प्रवृत्तिया इस भावना की सहयोगी हैं और कुछ विरोधी। किन्तु सबका मूल एक ही है। सुखी होने की कामना, यश-धन प्राप्त करने की कामना, विजय और सम्मान प्राप्त करने की कामना तथा स्वतन्त्रता और अमरत्व की कामना सब एक ही भावना के विभिन्न पहलू हैं। सब में 'अहं' की सत्ता का संरक्षण और सवर्धन करने की भावना ही पाई जाती है। इस प्रकार हमारी जो भावना हमारे लोक-व्यवहार का संचालन करती है, वही दर्शन और धर्म की नीव में भी है। किन्तु लोक में हमारी दृष्टि दूषित होता है। हमारा ज्ञान अधूरा होता है। इसलिये हमारा प्रयत्न और कार्य भी अधूरा तथा दूषित होता है। 'दर्शन' हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है

१—मीमासा के "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र पर भाष्य करते हुए शबरमुनि ने लिखा है।

तस्माद् धर्मा जिज्ञासितव्यः स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे
यतोऽभ्युदय निःश्रेयम् सिद्धिः स धर्मः ॥ कणाद।
धारणाद्धर्मसित्याहुर्धर्मेण विधृतः प्रजा.
य स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।

और धर्म हमारे कर्तव्य को पूर्ण तथा निर्मल करता है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न यह आपस में सहयोगी ही नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक भी हैं। 'जानाति' इच्छति, यतते' यह क्रम बहुत ही स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। किसी तत्त्व की जानकारी प्राप्त करने पर ही उससे सम्बन्धित किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है। और, तब हम तदनुसार प्रयत्न करते हैं। ज्ञान के अभाव में इच्छा पैदा ही नहीं होगी। यही नहीं, असद् ज्ञान पर जो इच्छा उत्पन्न होगी, वह गलत प्रयत्न को जन्म देगी, संसार में हमारी यही स्थिति होती है। हम अमरत्व की जो कामना करते हैं वह मिथ्या है। क्योंकि हमारी आत्मा अमर तो है ही, जो जैसा है, वैसा होने की कामना क्यों करेगा। वस्तुत यह कामना मन की अपनी कामना है, हम जिस 'अहं' को अमर देखना चाहते हैं, वह अपना निजी रूप नहीं है। किसी पत्ती को ही वृक्ष का असली रूप और जीवन मानने वाला व्यक्ति पतझड़ पर रो देगा। किन्तु वृक्ष के सच्चे जीवन का ज्ञाता उस पतझड़ को वृक्ष की नवचेतना का अंग मानेगा। इसी प्रकार अज्ञान के कारण हम अपने जिस रूप को अमर देखना चाहते हैं, वह अपना निजी रूप नहीं है। उसे 'अमर' बना देने का हमारा प्रयत्न पत्ती को सींचने जैसा है। लोक में हम अपनी सत्ता को शरीर के रूप में देखते हैं और इसी के सरक्षण, पालन, पोषण और अमरत्व की कामना करते हैं[1]। किन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि हमारी यह धारणा कितनी भ्रामक है। एतत् सम्बन्धी हमारा सारा प्रयत्न छूंछा पड़ जाता है। इस प्रकार जब हमारा सारा प्रयत्न मिथ्या और आडम्बर मात्र प्रतीत होने लगता है तो हम किंकर्तव्य विमूढ हो जाते हैं। यही धर्म और दर्शन की उत्पत्ति होती है। हमारा वास्तविक रूप क्या है? इस प्रश्न के हल करने के प्रयत्न में दर्शन और हमारा

---

१ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ० पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर॰ प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्, कठो० २,१,१,

वास्तविक कर्तव्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में धर्म का आविर्भाव होता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म की युगपत उत्पत्ति यह सिद्ध करती है कि दोनों ही हमारी एक ही समस्या के दो हल हैं। दर्शन हमारे वास्तविक 'अहं' का ज्ञान देता है[1]। और धर्म हमारे सफल और सच्चे कर्तव्यों को सुझाता है। दर्शन हमें बताता है कि हमारी 'सत्ता' शरीर नहीं है। यह तो हमारी सत्ता को, हमारे स्वरूप को संकुचित और अन्धकाराच्छादित करने वाला बन्धन है। इस प्रकार का ज्ञान होते ही हमारे कर्तव्य की दिशा बदल जाती है। मैं के स्वरूप का परिवर्तन, मेरे कर्तव्यों को भी प्रभावित करता है। यही धर्म है। तत्त्व-ज्ञान के आधार पर स्थित हमारे कर्तव्य ही धर्म की कोटि में आते हैं[2]। ऊपर 'जानाति' 'इच्छति' और 'यतते' की जो चर्चा की गई। उसमें 'जानाति' तो दर्शन का रूप है और इच्छति तथा यतते धर्म का रूप है। दर्शन ज्ञान स्वरूप है और धर्म, इच्छा, कर्तव्य तथा श्रद्धा रूप है। उपर्युक्त समस्त विश्लेषण में कुछ बातें स्पष्ट हो गई हैं। जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) दर्शन और धर्म की उत्पत्ति हमारी एक ही भावना से होती है। अथवा एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिये दर्शन और धर्म का उदय

---

१. न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ कठो० २।२।५
अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता. ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ प्रश्नो० ६, ६
यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । कठो० २, ३, २

२. श्रुतौ जनानां विदुषां समूहे, महाजनानां परिवर्तनमिष्टम् ।
एषोऽपि वाऽध्यात्मविदां प्रयत्नः, मूयाच्च य सोऽपि परोऽस्ति धर्मः ॥ याज्ञ०
स्मृ० १, ९,

होता है[१]।

(२) दर्शन हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है और धर्म हमारे कर्तव्यों को व्यवस्थित, सुन्दर और सफल बनाता है अथवा दर्शन हमारी जानकारी को स्वस्थ दिशा देता है। और धर्म हमारे जीवन को सही मार्ग पर ले जाता है।

(३) धर्म, दर्शन का अनुगामी है। अर्थात् दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ही धार्मिक मान्यताओं का निर्धारण होता है। इसी प्रकार दर्शन की उपयोगिता धार्मिक प्रवृत्ति में है। जिस दर्शन से व्यक्ति का जीवन बनाने वाला धर्म पुष्ट नहीं होता, वह दर्शन नहीं है।

उपर्युक्त विशेषताओं का फल यह हुआ कि भारत में धर्म और दर्शन दोनों का ही विकास उतना हुआ है, जितना होना चाहिए। बात यह है कि धर्म, दर्शन की प्रयोगशाला है। किसी भी विज्ञान का वास्तविक और पूर्ण विकास तभी सम्भव है, जब प्राप्त ज्ञान प्रयोगों की कसौटी पर कसा जाता रहे। केवल कल्पना, तर्क और अनुमान के बल पर विज्ञान नहीं चलता। आज का भौतिक विज्ञान इसका साक्षी है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि अनेक भौतिक तत्त्व, ज्ञात होते हुए भी तब तक पूर्णतः हमारी जानकारी में नहीं आते, जब तक हम उन्हें प्रयोगार्ह नहीं बना लेते। प्रयोग करने का अर्थ होता है, उस तत्त्व पर पूर्णतः नियन्त्रण करके, उसकी सभी गतिविधियों को अपनी इच्छा के अनुसार संचालित करना। भौतिक तत्त्वों

---

१ इसी एकता की ओर संकेत करते हुए कहीं कहीं दर्शन को ही धर्म मान लिया गया है।
वरिष्ठ सर्वधर्मेभ्यो ज्ञानं मोक्षैककारणम्।
ज्ञानान्नास्ति परो धर्म इति वेदान्तनिर्णय। सूर्य संहिता यज्ञ वै० खण्ड २०, २७

गीताकार का यह कथन भी इसी ओर संकेत करता है।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

पर हम यन्त्रों की सहायता से नियन्त्रण पा लेते हैं। किन्तु दर्शन के तत्त्वों पर नियन्त्रण करना सहज नहीं होता। मनोविज्ञान इसीलिए मन का अध्ययन करने में कठिनाई का अनुभव करता है। दर्शन तो केवल मन का ही नहीं, उससे भी अधिक सूक्ष्म आत्मतत्त्व का अध्ययन करना चाहता है[1]। इसीलिए उसे बहुत कठिनाई का अनुभव होता है। लेकिन प्रयोग उसे भी करना पड़ता है। क्योंकि यदि भौतिक ज्ञान बिना प्रयोग के अधूरे माने जा सकते हैं, तो सूक्ष्म तत्त्वज्ञान तो बिना प्रयोग के आकाश पुष्प की तरह अलीक ही लगेगा। भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने दर्शन की इस कठिनाई को अच्छी तरह से समझा था। यही कारण है कि 'धर्म' के रूप में दर्शन की प्रयोगशाला उन्होंने स्थापित की थी।

धर्म हमारी विभिन्न वासनाओं, व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करके आत्मतत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करता है। ऊपर जिन मूल प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है, उन समस्त प्रवृत्तियों पर धर्म नियन्त्रण करता है। इनके नियन्त्रित होने का अर्थ होता है कि हमारा सम्पूर्ण 'अहं' ही नियन्त्रित हो जाता है। इस प्रकार 'अहं' पर पूर्ण नियन्त्रण रखकर ही आत्म-तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन किया जा सकता है।[2] ऐसा न होने पर इस कल्पित 'अहं' के दायरे में ही हम उलझे रहते हैं। इस नियन्त्रित 'अहं' को दर्शन की चिन्तन प्रणाली अच्छी तरह परखती है। दर्शन की विचार-सरणि में पड़कर इस 'अहं' का पर्दा फाश हो जाता है। इसका सारा भेद खुल जाता है। तब हमारी चिन्तना शक्ति वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख होती है। दर्शन का यही साध्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'धर्म' दर्शन के लिए

---

१ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ कठो० १, ३, १०

२ विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥ कठो० १, ३, ९,
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्, कठो० १२, २४

क्षेत्र तैयार करता है।

एक बात और है, तत्त्वज्ञान केवल जानकारी मात्र नहीं है। यदि वह जानकारी मात्र होता तो एक व्यक्ति को भी तत्त्वज्ञान सम्पन्न हो जाने पर, समस्त मानवजाति के लिये वह सुलभ हो जाता। भौतिक विज्ञान जानकारी की कोटि में आता है। क्योंकि इसका रहस्य जब एक को ज्ञात हो जाता है, तो दूसरों के लिये वह उतना ही सुलभ हो जाता है, जितना, रहस्य के पहले ज्ञाता के लिये। तत्त्वज्ञान इस प्रकार की जानकारी नहीं है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' या 'सर्व खल्विदम् ब्रह्म' का शाब्दिक अर्थ तो हम ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु इससे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। इस प्रकार की जानकारी तो हमें हास्यास्पद ही प्रतीत होती है। दर्शन ऐसी जानकारी नहीं देता। दर्शन के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसकी अनुभूति भी होनी चाहिये[1]। दर्शन, ज्ञान का सन्देश वाहक मात्र नहीं है, वह ज्ञानाकार अनुभूति का सृजनकर्त्ता है। जैसे घट के प्रत्यक्ष का अर्थ है, बुद्धि का घटाकार हो जाना, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति का अर्थ है, बुद्धि का तदाकार हो जाना। धर्म का स्वरूप भी इसी के साथ संश्लिष्ट है। बुद्धि तदाकार होकर जिस ज्ञान को देती है वह, पूर्ण ज्ञान नहीं है। तत्त्वज्ञान में केवल बुद्धि ही नहीं, मन, हृदय सब तदाकार हो जाता है। इसलिये इस स्थिति में इन सबका अस्तित्व नष्ट हो जाता है[2]। यहाँ हृदय का ज्ञानाकार हो जाना धर्म की स्थिति है। चिन्तना के द्वारा बुद्धि, तत्त्व के जिन पहलुओं को स्पष्ट करती है, हृदय उसको

---

१ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ कठो० २, ३, १२
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। कठो० १,२,२३

२ यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्। २, ३, १०
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठो० २, ३, १४

अनुकरण करते हुए उसकी सचाई-कचाई देखता चलता है। कहने का तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञान की ओर बुद्धि और हृदय दोनों समान रूप से बढ़ते हैं। बुद्धि की गति दर्शन का निर्माण करती है। और हृदय की गति धर्मपथ का सृजन करती है। जहाँ एक की गति अन्यथा हुई, दूसरा भी पथ भ्रष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि सच्चा दर्शन है, तो उसके साथ धर्म की स्थिति आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन और धर्म एक ही पथ के दो भिन्न रूप हैं। धार्मिक को तत्त्वज्ञान सुलभ है और दार्शनिक को, तत्त्वज्ञानी की, जीवन चर्या ही धर्म है। इसीलिए धर्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुए एकमत से यह स्वीकार कर लिया गया है कि तत्त्वज्ञानियों द्वारा निर्देशित व्यवहार ही धर्म है या महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ ही धर्म है[1]। इस निर्णय में अन्धविश्वास नहीं है, बल्कि धर्म की उच्चता और गहनता के प्रति अटूट विश्वास है। चूँकि धर्म की स्थापना तत्त्वज्ञान पर ही होनी चाहिए। इसलिये उसके निर्धारण का भार दर्शन पर ही छोड़ा गया है[2]।

---

१. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

महाभारत वन पर्व ३१४, ११०.

दुर्ज्ञेय शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्मगत्या द्विजोत्तम॥ महा वनपर्व २०६, ४२
कानीनस्य मुनेः स्वबान्धववधूवैधव्य विध्वंसिनो।
नप्तारः किल पंच गोलकसुताः कुण्डाः स्वयं पाण्डवाः।
ते पञ्चापि समानजातय इह दुःस्वप्न विघ्न सन।
तेषां कीर्तिनमामनन्ति मुनयो धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः॥ सुभाषि० व्यास
२०४४

२. यत्तु सद्बुद्धियोगेन सद्भिरात्मनि लक्ष्यते।
रूपं तदेव धर्मस्य सूक्ष्ममध्यात्मलक्षणम्..भा० आ० भा० पृ० १४

ऊपर के विवेचन से दो बातें ज्ञात हो जाती हैं, पहली यह कि दर्शन के लिए धर्म क्षेत्र तैयार करता है। अर्थात् धर्म, दर्शन की प्रयोगशाला है। और दूसरी यह कि तत्त्वज्ञान का अन्वेषण धर्म के रूप में प्रतिफलित होता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान की अनुभूति धार्मिक जीवन के रूप में व्यक्त होती है। यहाँ धर्म के दो रूप हो जाते हैं। धर्म का एक अंग साधना के रूप में दर्शन की प्रयोगशाला बनता है, दूसरा अंग दर्शन के फल के रूप में मानव जीवन के साथ तादात्म्य हो जाता है। पहले को तप और दूसरे को सदाचरण की संज्ञा दी जा सकती है। शम, दम आदि पहली कोटि मे आते हैं और अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि दूसरी कोटि मे। किन्तु यह विभाग स्थूल रूप में है, मूलतः सब में एकता है।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। ऊपर हमने एक स्थान पर चर्चा की है कि धर्म ही नहीं, मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ "अमरत्व" की भावना से प्रेरित होकर ही पल्लवित होती हैं। इसी आधार पर यह देखा जाता है कि दार्शनिक मान्यताओं के ऊपर ही समाज की राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी मान्यताएँ निश्चित होती हैं, जो समाज इस नैसर्गिक नियम का उल्लंघन करता है, उसकी गाड़ी ठीक से नहीं चल सकती। पाठकों ने बैलगाड़ी तो देखी ही होगी। किसी किसी गाड़ी में तीन बैल जोते जाते हैं। सबसे आगे की ओर जो अकेला बैल होता है, उसे "बीडी" कहते हैं। समाज की गाड़ी खींचने में दर्शन "बीडी" है। लेकिन इस गाड़ी में एक विशेषता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। इसलिए इसका भार दर्शन पर है। अर्थ और काम का उत्तरदायित्व मोटे तौर पर धर्म के अतिरिक्त समाज की अनेक, जैसे राजनीतिक, आर्थिक आदि. व्यवस्थाओं पर है। धर्म स्वयं एक पुरुषार्थ है। यह महत्वपूर्ण योगदान देता है। इससे अर्थ और काम की सिद्धि तो होती ही है, मोक्ष का उत्तरदायित्व भी इसके ऊपर है। लेकिन इन सबका सम्मिलित

उत्तरदायित्व दर्शन पर है। वस्तुतः दर्शन वह घोड़ी है, जो यदि कन्धा छटका दे, तो पीछे चलने वाले सहयोगी बैठ जाए। यही नहीं, यदि ये *सहयोगी या पिछलग्गू दर्शन के पदचिन्हों का ठीक से अनुसरण न* करें तो प्रगति मे गतिरोध उत्पन्न हो जाये। किसी भी समाज के इतिहास का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जब-जब उस समाज की प्रगति अवरुद्ध हुई है, तब सूक्ष्म रूप से यही कारण उपस्थित हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारे समाज का पूरा ढाचा एक क्रमबद्ध व्यवस्था द्वारा निर्मित होता है। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक ये सभी मान्यताएँ एक दूसरे के सहयोग पर ही आगे बढ़ती हैं। आपस में इनका विरोध समाज को रोगी बना देता है। ये या इन जैसी व्यवस्थाएं उन सूतों की तरह हैं, जिन्हें एक में बटकर समाज रूपी रस्सी तैयार की जाती है। ऐसी स्थिति में धर्म बेचारा दर्शन मे पृथक् कहा जा सकता है।

एक बात और है, दार्शनिक चिन्तना समाज के कुछ इने-गिने शीर्षस्थ व्यक्ति ही करते हैं। इसी प्रकार राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्थाओं का सचालन समष्टि के आधार पर ही होता है, किन्तु धर्म व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का होता है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक होना चाहिये।

—:०:—

धर्म, उपदेश और समाज

जन जीवन में धर्म, सदाचार एवं नैतिकता आदि उत्तम गुणों की प्रतिष्ठा के लिए उपदेश का बहुलता से उपयोग किया गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस साधन का अवलम्ब लिया जाता है। राजनीति जैसी कुटिल विद्याओं में भी उपदेश को स्थान प्राप्त है। वस्तुतः हम सब सर्वदा ही कोई न कोई उपदेश लेते रहते हैं। किन्तु इसका सब से महत्त्वपूर्ण उपयोग धर्म और उसके द्वारा समाज की प्रतिष्ठा में होता है। धर्म ऐसे गूढ़ तत्त्व को उपदेश सामान्य जीवन में बैठा देता है। नीचे हम धर्म की संक्षिप्त व्याख्या और उसे प्राप्त करने के साधनों पर विचार करेंगे। इस विवेचना से उपदेश के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। और यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि उपदेश के माध्यम से धर्म किस प्रकार जन-जीवन में रम जाता है।

धर्म का स्वरूप—वैसे अनेक विद्वानों तथा साधकों ने धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। किन्तु सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि जिस मार्ग से हम सत्य के समीप पहुँचते हैं, वह धर्म है। सत्य से तात्पर्य उस परम तत्त्व से है, जो समस्त विश्व की व्यवस्था में ओत-प्रोत है। सत्य के ऊपर माया का आवरण चढ़ा है[1]। धर्म उस आवरण को हटाकर सत्य का साक्षात्कार कराता है। इस परम सत्य को भी धर्म ही कहा गया है। इस अर्थ में धर्म को समस्त विश्व का धारण करने वाला अथवा धारण करने योग्य कहा गया है। नीतिशास्त्र (*एथिक्स*) *जिन शाश्वत नियमों को—'ऐसा करना चाहिए'—शब्दों* में पालन करने की राय देता है, धर्म की नींव उन्हीं नियमों पर आधा-

---

[1] हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितमुखम्, तत् त्व पूषन अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोपनिषद् ॥

रित है। इसलिए कणाद ने 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः' कहकर धर्म के पालन में ही समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि का संकेत कर दिया है। इस प्रकार धर्म ऐसी चीज नहीं है, जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये ही हो। हमारा लक्ष्य क्या है? उस लक्ष्य की पूर्ति हम कैसे कर सकते हैं? तथा लक्ष्य और उसके साधनों को हम कैसे पहचानें? इत्यादि विषयों पर धर्म, प्रकाश डालता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत धर्म भी आ जाता है, अर्थात् इस गणना अथवा वर्गीकरण से ऐसा लगता है कि चारों पुरुषार्थ पृथक् पृथक् प्राप्तव्य हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। जैसा कि कणाद ने बताया है, धर्म सभी पुरुषार्थों का हेतु है। महाभारत कार भी निम्नलिखित शब्दों में इसी ओर संकेत करते हैं।

> ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष, न कश्चिच्छृणोति मे।
> धर्मादर्थश्च कामश्च, सधर्मः किं न सेव्यते॥

धर्म सत्य पदार्थ है, वह नित्य तथा पूर्ण है[1]। इस सत्यरूप धर्म की प्राप्ति का साधन भी धर्म कहलाता है। यह साधन रूप धर्म नाना प्रकार का है[2]। इसे हम कर्तव्य कहते हैं। सत्यपदार्थ की प्राप्ति के लिये अथवा पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिये हमें कब क्या करना चाहिये, यह निश्चय करना सामान्यबुद्धि का काम नहीं है[3]। क्योंकि

---

१ न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्योधर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यः हेतुरस्यत्वनित्यः॥ महाभारत।

२ दशधर्मांश्च दृश्यन्ते कुलधर्मास्तथैव च, जातिधर्माश्चवैधर्मा गणधर्माश्च शोभने। शरीरकाल वैषम्यादापद्धर्मश्चदृश्यते, एतद्धर्मस्यनानात्वं क्रियते लोकवासिभिः। महाभारत अनुशासन पर्व॥

३ किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः॥ गीता ४, १६

कोई कर्म यदि किसी परिस्थिति में अच्छा है, तो वही दूसरी परिस्थिति में बुरा भी हो सकता है। युग के अनुसार हमारे कर्तव्यों के स्वरूप में भी अन्तर होता रहता है[1]। यही नहीं हमारी व्यक्तिगत विभिन्नता भी कर्म के स्वरूप में परिवर्तन कर देती है। हमारे लिये जो उचित है, वही आपके लिये अनुचित हो सकता है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक में जिसे हम धर्म कहते हैं, उसके दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जो परमसत्य नियम के रूप में विश्व में प्रतिष्ठित है। यह साध्य रूप धर्म है। इस साध्य में कभी कोई परिवर्तन नहीं आता। सत्य कभी परिवर्तित नहीं होता। लेकिन सत्य की प्राप्ति के साधन में तो परिवर्तन अवश्यम्भावी नहीं, अनिवार्य है। इधर रुढिग्रस्त धर्माचार्यों ने धर्म की "नित्य" परिभाषा को लेकर साधनभूत धर्म को भी नित्य मानना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके फलस्वरूप वे न तो साधन भूत धर्म को ही अपना सके और न साध्यरूप धर्म का ही आभास पा सके।

वस्तुत धर्म ग्रन्थों में धर्म नाम से "परम सत्य" शाश्वत नियम को भी अभिहित किया गया है और कर्तव्य को भी धर्म नाम दिया गया है, सम्भवत साध्य और साधन की अभिन्नता को हृदयगम करने के लिये ही ऐसा हुआ है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि हमारे कर्तव्य सदा एक से नहीं रह सकते। और न उनके स्वरूप को अपरिवर्तनीय आदेश के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। यह तो सम्भव भी नहीं है।

कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय—इस प्रकार कर्तव्य की विभिन्नता तथा गूढ़ता हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न यह उपस्थित करती है कि

---

१ युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुन । धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्ततेपुन । नैकस्मिन्सभये चैको धर्म सर्वं सुखावह, येनाभ्युदयते कश्चित् तेनैवान्यो विपद्यते ॥ महाभारत ।

२ अन्यो धर्म समस्थस्य विषमस्थस्य चापर । नहि सर्वहित कश्चित् आचार सम्प्रवर्तते ॥ महाभारत ।

हमें किसी विशेष परिस्थिति में क्या करना चाहिये ? इसका निर्धारण कैसे हो, इस सम्बन्ध में धर्माचार्यों, ऋषियों तथा तत्त्वदर्शियों ने अपने अनुभव के आधार पर अनेक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। कोई कर्तव्य निर्धारण के लिये शास्त्र को प्रमाण रूप में रखने की बात कहता है[१]। तो कोई अपने हृदय को ही इसका साक्षी अथवा निर्णय करने का अधिकारी मानता है[२]। कुछ लोग लोकमत को ही प्रधान मानने के पक्षपाती हैं[३]। इसके प्रतिकूल कुछ लोग बुद्धिसंगत कर्म को ही करणीय बतलाते हैं[४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे कर्तव्य का स्वरूप चंचल, अनिश्चित अतः गूढ़ है, वैसे ही उसकी कसौटी भी विविध है। अतः "किसी विशेष परिस्थिति में अथवा नित्यप्रति हम कैसा आचरण करें" यह हमारा प्रश्न कोरा ही रह जाता है।

---

१ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि। गीता १६, २४
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः, न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्॥ गीता १६,२३

२ श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्... महाभारत
आत्मनात्मनि धर्मेण यो नरो निश्चितव्रतः। स्वकपालयते धर्मं स्वमते नैव भासितम्॥
वस्तुतस्तु सदाचारः प्रमाणं ह्यात्मतुष्टिनः, अन्वीदनैव गृहीतव्यधर्मतत्त्वबुभुत्सुभिः।
अन्ततो धर्मसन्देहे प्रमाणं ह्यात्मनः प्रियं, एतदेवाह बादरायणपाराशर्यः पुराणकृत॥

३ शास्त्रस्यापि प्रमाणत्वे हेतुर्लोकपरिग्रहः, जननोपेक्षितं शास्त्रं नप्रमाणमिति स्थितिः।
एवं लोकमतस्यैव प्रामाण्यं परमं स्मृतं, बुद्धिरेव मतं नाम यद्ध्यानज्ञो विनिश्चयः॥

४ सदसज्ज्ञानस्य विज्ञाने सत्यं शास्त्रार्थ निर्णये, कार्याकार्ये विवेके च बुद्धिरेवान्तनो गतिः॥

यदि हम शास्त्र को ही कसौटी मानते हैं, तो भी निर्भ्रान्त निर्णय नहीं हो पाता, क्योंकि एक तो धर्मशास्त्रों की रचना किसी काल, परिस्थिति अथवा युग विशेष की परिधि के अन्दर ही होती है। उस परधि के बाहर उसे प्रमाण कैसे माना जाय ? दूसरे शास्त्रों के वचन परस्पर ही इतने विरुद्ध पड़ते हैं या इतने अनिश्चित अथवा गूढ रहते हैं कि सामान्य जन शास्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को समझ ही नहीं पाते। "जो अपनी बुद्धि और हृदय द्वारा समर्थित हो, वही कर्म हमें करना चाहिये।" यह मान लेना भी खतरे से खाली नहीं है। जब तक हमारा हृदय और हमारी बुद्धि निष्कलुष नहीं हो जाती है। तब तक वह ठीक राय देती है, इसका क्या प्रमाण है ? किन्हीं भी दो व्यक्तियों का अन्तःकरण एक समान नहीं होता। हमारे संस्कार, वातावरण, तथा वंश-परम्परा और शिक्षा आदि का इस पर स्पष्ट ही प्रभाव पड़ता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इन तथ्यों को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। इसलिये कर्तव्य निर्धारण में बुद्धि और हृदय से भी निर्भ्रान्त निर्णय नहीं मिलता। कर्तव्य के निर्धारण में लोकमत को तो कसौटी बनाया ही नहीं जा सकता। झूठ बोलने वाले ६६ लोगों का बहुमत सत्य बोलने वाले एक व्यक्ति को गलत नहीं कह सकता।[1] धर्माधर्म के निर्णय के लिये मुण्डगणना बहुत ही गिरी स्थिति है। यह कर्तव्यपथ की विडम्बना है। फिर लोकमत भी तो चंचल है। आज उसे जनतन्त्रवाद प्रिय है तो कल साम्राज्यवाद प्रिय हो जाता है। आज वह बुद्ध भगवान के आदेश पर चलता है तो कल कुमारिल और शंकर का अनुयायी बन जाता है। इस प्रकार लोकमत के सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि एक भी असाधारण व्यक्ति उसकी धारा को विपरीत दिशा की ओर मोड देता है। वस्तुतः लोकमत कभी स्वतन्त्र अथवा पूर्ण प्रभुता सम्पन्न रहा ही नहीं। वह या तो कुछ विचारकों, तत्त्वदर्शियों, धर्माचार्यों,

---

१ एकोपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तम, स विज्ञेय परोधर्मो नाज्ञानामुदितो युतै। मनु

नेताओं और उपदेशकों के इशारे पर चलता रहा है या फिर छिन्न भिन्न अतएव मूक होकर पथभ्रष्ट होता रहा है। इसलिये ऐसा अव्यवस्थित, चंचल और परतन्त्र लोकमत वास्तविक कर्तव्य का निर्धारण कर सकता है, इसमें सन्देह है।

सामान्य जन का अवलम्ब—यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी प्रमाण उचित हैं, किन्तु सामान्य जन के लिये नहीं। शास्त्र, शास्त्रज्ञों के लिए, हृदय और बुद्धि, विकार रहित विरक्त पुरुषों के लिए तथा लोकमत, लोक का शोधन करने वाले असाधारण पुरुषों के लिए प्रमाण है। सामान्य जन इन प्रमाणों के आधार पर कर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता। बात यह है कि साधन पक्ष साध्य से नितान्त पृथक नहीं होता है[१]। इसलिए साध्य का साक्षात्कार करने वाले सिद्ध पुरुष ही साधन के वास्तविक और निर्भ्रान्त रूप को कुछ कुछ प्रकट कर सकते हैं। कुछ कुछ इसलिए क्योंकि साध्य तत्त्व अनिर्वचनीय, अज्ञेय तथा अनुपमेय होने के कारण पूरा का पूरा नहीं प्रकट किया जा सकता। शास्त्र के प्रणेता तत्त्वदर्शी कहे जाने वाले ऋषि भी पूर्ण 'अज्ञ' नहीं कहे जा सकते[२]। किन्तु साध्य तक उनकी पहुँच हो गई होती है, इसलिए साधन पक्ष का सही-सही विवरण वे प्रस्तुत कर सकते हैं। सामान्य जन इन्हीं तत्त्वदर्शियों के उपदेश में कर्तव्य पथ का निर्धारण कर सकता है[३]।

इस प्रकार सामान्य जन म धर्म की प्रतिष्ठा और उसके प्रति लोगों की निष्ठा बनाए रखने के लिए तत्त्वदर्शियों का उपदेश ही एक मात्र उपाय

---

१. साधन और साध्य को एकता का प्रतिपादन 'साधन साधन एवं साध्य का स्वरूपाभिव्यक्ति' प्रकरण में किया गया है।

२. यदीश्वर विभूति मा शास्त्रे वेत्ति न तत्त्वतः, कथं तज्जनता विद्यात्प्रिय पाशुलपादुका॥

३. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तत्त्वदशा का अर्थ संसार से विरक्त,जन कोलाहल से दूर रहने वाले तपस्वियों से ही नहीं है। सृष्टि के चरम सत्य का साक्षात्कार या उसका अनुभव इस लोकजीवन में भी सम्भव है। लोकजीवन में रमने वाले ऐसे ही योगियों द्वारा जनकल्याण सम्भव है। नीचे की पंक्तियों में हम उपदेश और उपदेष्टा के वास्तविक स्वरूप पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे। इससे विषय साफ हो जायगा।

उपदेश और उपदेष्टा.—वस्तुत उपदेश दिया नहीं, लिया जाता है। यदि कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण के प्रति हम सजग नहीं हैं। यदि हम सत्य की खोज नहीं करना चाहते तो उपदेश हमारे लिए व्यर्थ सा है। बिना उत्कट जिज्ञासा के उपदेश का प्रभाव नहीं पड सकता। इसलिए उपदेश जबर्दस्ती दिया नहीं जाता, आग्रह और विनयपूर्वक लिया जाता है। एक बात और है, उपदेश देने का अधिकार सभी को तो है नहीं। जो तत्त्वदर्शी हैं, शिष्ट और श्रेष्ठजन हैं, उन्हें ही उपदेश देने का अधिकार है। ऐसे अधिकारी उपदेष्टा द्वारा प्राप्त उपदेश ही वास्तविक उपदेश है। यों तो 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' के अनुसार सभी दूसरों को उपदेश देना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार का उपदेश बकवास मात्र है। इसलिए उत्कट जिज्ञासा रहने पर भी सच्चे उपदेशक के अभाव में क्या करणीय है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुत सत्यपथ का अन्वेषक कभी विफल नहीं होता। चूंकि उपदेश दिया नहीं, लिया जाता है, इसलिए वह उसे प्राप्त ही कर लेता है। जिज्ञासु को उपदेशकों की कमी नहीं होती। वस्तुत उपदेश की कमी है भी नहीं। इस जड चेतनमय संसार के कण कण से हमें उस परम सत्य की सत्ता का आभास मिलता है। इसलिए सृष्टि का कण कण कुछ उपदेश देता रहता है। धरती, पर्वत, मेघ, वृक्ष सभी तो हमें उपदेश देते हैं। केवल जिज्ञासु-वृत्ति की आवश्यकता है। जिज्ञासु-वृत्ति इन प्राकृतिक तत्त्वों में छिपे हुए सत्य तत्त्व को पहचान लेती है और वह

अपनी वृत्ति के अनुसार उसे ग्रहण करके सामान्य जन के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। बादल की बड़ी बड़ी बूंदों की चोट सहकर भी पर्वत निश्चल और गम्भीर भाव से स्थित रहता है। इससे भागवतकार ने इस प्रकार प्रेरणा ली.—

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतस. ॥

और मानस के रचयिता तुलसी इस प्रकार प्रेरणा प्राप्त करते हैं —

बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसे ॥

दोनों की प्रेरणा के दो स्वरूप होते हुए भी मूलतः एक ही हैं। दोनों ही से एक ही सत्य की अभिव्यक्ति हो रही है। एक, विपत्ति में धैर्य रखने की प्रेरणा लेता है और दूसरा दुष्टों की बात पर ध्यान न देने की सलाह लेकर सहनशीलता का पाठ सिखाता है। दोनों ही प्रकृतिस्थ स्थितप्रज्ञ, अर्थात् विकार रहित मानस के गुण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तविक जिज्ञासु अपना उपदेशक पा ही लेता है। उसका जीवन ही उसका उपदेशक होता है। किन्तु इस प्रकार से कर्तव्य पथ की खोज अथवा सदाचरण का उपदेश प्राप्त करना सहज नहीं है। इसमें भी साधना की आवश्यकता होती है। जिसका अन्तःकरण इतना विशाल नहीं हो पाया है कि पर्वत में भी आत्मतत्त्व की स्थापना वह कर सके, उसे उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। कवि, उपदेशक अथवा तत्त्वदर्शी वस्तुओं के प्रति तादात्म्य भाव स्थापित करके ही स्वयं लाभान्वित होता है और दूसरों को भी लाभ पहुँचाता है। जो अपने ही सरीखे सबको जानता है, वह सुख दुःख को बराबर समझने वाला परमयोगी कहलाता है[१]। इसलिए प्राकृतिक तत्त्वों अथवा जगत के

१ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन, सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः। गीता।

किसी अंश से उपदेश को प्राप्त कर लेना सामान्य जन के लिए सुलभ नहीं है। अतएव समाज में शिष्टजनानुमोदित, अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित व्यवहार ही सामान्य जन के लिए सर्व सुलभ मार्ग है। समाज के शिष्टजन जिस कर्तव्य को करते हैं तथा अपना जैसा आचरण रखते हैं, तदनुसार ही जनता भी चलती है। ऐसे सदाचारी तत्त्वदर्शी समाज के वास्तविक उपदेष्टा हैं। बात यह है कि केवल मौखिक उपदेश, बौद्धिक विवेचना अथवा वाद-विवाद तक ही सीमित रह जाता है।[१] उससे बुद्धि को मनोरंजन तो मिलता है, किन्तु मन को शांति नहीं मिलती। *उपदेश वही उपदेश है, जिसे जीवन में उतारा जा सके।* ऐसे कर्तव्य की ओर संकेत कर देना, जो संभव भी नहीं है, हमारे किस काम का है। जीवन में पग पग पर हमारे सामने जो समस्याएं आती हैं, उनका ऐसा सही हल निकालना ही वास्तविक निर्देशन है, जिससे हमारा इहलोक और विश्वास हो तो परलोक भी सुधरे। समाज ऐसे ही उपदेश को स्वीकार करता है, जिसका आचरण उपदेष्टा स्वयं करता हो अथवा अन्यत्र कहीं जो आचरित होता हो। यदि किसी समाज में एक भी ऐसा शिष्ट व्यक्ति पैदा हो जाय तो वह उस समाज की काया पलट सकता है। किसी व्यक्ति विशेष पर उसका प्रभाव भले ही न पड़े, किन्तु समष्टि को वह प्रभावित कर ही देता है। उदाहरण के लिये महात्मा गांधी को ले लें। व्यक्ति रूप में कितने लोग महात्मा जी से प्रभावित हुए, यह जानने का प्रयत्न करने पर हमें कोई बड़ी संख्या नहीं दिखलाई देती। ऐसे लोगों को अंगुलियों पर गिना जा सकता है। किन्तु भारतीय समाज पर उनका जो प्रभाव पड़ा है, वह अप्रतिम है। भारतीय समाज पर ही नहीं आज विश्व समाज पर उनके उपदेशों की अमिट छाप लगती जा रही है। ऐसे महापुरुषों के चरित्र की यह विशेषता है कि उनके चले जाने पर उनके द्वारा आचरित व्यवहार ही युगों तक उनका प्रतिनिधित्व

१ आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः यद्यप्यधीताःसह षड्भिरंगैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकालेत्यजन्ति, नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

करता है। महात्मा गांधी जी ने जो उपदेश दिया, उसका उन्होंने स्वयं आचरण करके भी दिखाया। वस्तुत सदाचार से अनुप्राणित उपदेश ही समाज के लिये कारगर हो सकता है। जो उपदेश सदाचार की भूमि पर प्रतिष्ठित होकर जन जीवन में प्रवेश करता है, वह निष्फल नहीं जाता। 'अहिंसा का क्या अर्थ है?' इसकी व्याख्या में गांधी ने अधिक समय नहीं लगाया, बल्कि अहिंसा का पालन कैसे किया जा सकता है, तथा उसका कितना महान प्रभाव है। उसमें कितनी अमोघ शक्ति होती है यह सब दिखलाने या सिद्ध करने का ही उन्होंने प्रयत्न किया है।

सदाचार और समाज—यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसी महान विभूतियाँ ही जिस आचरण का पालन करती हैं, वही सदाचार है, सदाचार स्वयं अपना प्रमाण नहीं है। वह सत्पुरुष की आकांक्षा रखता है। इसलिये कर्तव्य के निर्धारण में सामान्य जन को ऊहापोह करने की जरूरत नहीं पड़ती। उनके समक्ष एक आदर्श रहता है, एक ज्वलंत उदाहरण रहता है, जिससे वे जाने अनजाने प्रेरणा लेते रहते हैं। यह एक विचित्र बात है कि व्यक्ति बिना जिज्ञासा के कुछ भी सीख नहीं सकता। उसे प्रयत्न करके उपदेश लेना पड़ता है और समाज अनजाने ही प्रभावित हो जाता है। यहाँ यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि शिष्ट, साधु, महाजन इत्यादि शब्दों से अभिहित किए जाने वाले व्यक्तियों में कुछ ऐसे उदात्तगुण होते हैं, जिनके आधार पर ही उनका सारा व्यवहार चलता है। वे गुण ही उनके आचार को सद्प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त होते हैं। सदाचार (शिष्टाचार) शब्द[१] यह प्रमाणित करते हैं कि इन आचरणों का व्यवहार निम्नलिखित गुण वाले व्यक्तियों के जीवन का अंग है।

न प्रहृष्यति सम्माने नावमाने च कुप्यति,
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतद्धिसाधुलक्षणम्॥

१ मध्नोति परकार्यं यः स साधुः सज्जनस्मृतः, शिष्यन्ति सदाचार शिष्टाचारश्च कथ्यते॥

सत्यं तपस्तथा यशो दया क्षान्तिरलोभता,
ब्रह्मचर्यं दमो क्रोधो दानम् शिष्टस्य लक्षणम् ।
न पाणिपाद चपलो न नेत्रचपलो भवेत्,
न चाग चपलो विप्र इतिशिष्टस्य लक्षणम् ॥

ऐसे व्यक्तियों द्वारा आचरित व्यवहार क्योंकर सदिग्ध हो सकता है ?

वस्तुतः इनके लिये व्यवहार का कोई अर्थ नहीं होता । ये अपने लिये कोई काम नहीं करते । ऐसे व्यक्ति लोकसंग्रही होते हैं । लोक-कल्याण की उदात्त भावना से ही प्रेरित होकर इनका समस्त व्यवहार चलता है । और यह स्पष्ट है, कि कार्य अथवा व्यवहार के मूल में जो भावना रहती है वही कार्य के मूल्य को बढाती या गिराती है । कार्य स्वयं फलवान नहीं होते, उनको प्रेरित करने वाली भावना ही फलवती होती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट और साधु व्यक्तियों का आचरण सर्वथा समाज का उत्थान करता है । इस विषय का प्रतिपादन भगवान कृष्ण ने गीता में बड़े विस्तार से किया है । उनका कहना है कि "जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है, जो कर्मों के झंझट से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, उन्हें लोकसंग्रह के लिए अवश्य ही कर्म करना चाहिये[१] ।" ऐसा न करना भगवान कृष्ण की दृष्टि में एक सामाजिक अपराध है[२] । कृष्ण का यह दृष्टिकोण स्पष्ट ही घोषित करता है कि समाज को सत्पथ पर चलने के लिये ऐसे तत्त्वदर्शी विद्वानों, साधकों और साधुओं का आचार ही एकमात्र अवलम्ब है । कोरा उपदेश समाज को और भुलावे में डालता है । भगवान कृष्ण का यह भी कथन है कि समाज के कर्मासक्त लोगों की श्रद्धा को कर्म पर से हटाना नहीं चाहिए[३] । सदाचार से प्रभावित होकर वे स्वयं अपने

---

१. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत,
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।

२. ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्,
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।

३. न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्,
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।

आचरण में संशोधन करते चलेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज के शोधन में सदाचार का बड़ा ही व्यापक महत्त्व है। उपदेश के प्रभाव के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। इन दोनों का संयुक्त प्रभाव सोने में सुगन्ध का काम करता है। वस्तुतः इन्हीं दोनों के अनुपम प्रभाव की सीमा में ही समाज चक्कर लगाया करता है। इन दोनों के ह्रास से समाज का ह्रास होता है और उत्थान पर समाज आगे बढ़ता है। किसी समाज के विकास-क्रम के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी वह गलत रास्ते पर गया है, उसका एकमात्र कारण समाज में सच्चे उपदेशकों और सदाचारियों का अभाव ही रहा है। और ठीक इसी तरह जब कभी वह उन्नति के पथ पर बढ़ा है, उसके पीछे कुछ तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शक्ति ने काम किया है।

उपदेश और सामाजिक परम्पराएँ—उपर्युक्त विवेचन से उपदेश के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश पड़ जाता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार समाज की परम्परा और रीति रिवाजों पर उपदेश अपना प्रभाव डालता है। इसे समझने के लिये उपदेश के शैलीगत स्वरूप का अवलोकन आवश्यक है। आदेश देने पर किसी विधेय के लिये कहा जाता है कि 'इसे करो' और सम्मति अथवा राय देते हुये यह कहा जाता है कि 'इसे तुम्हें करना चाहिये।' उपदेश स्पष्ट रूप से न आदेश देता है और न सम्मति ही। किन्तु दोनों की प्रभावोत्पादक शैली उसमें रहती है। वह विधेय तत्त्व की इस ढङ्ग से व्याख्या करता है कि उसका 'कर्तव्य' पहलू स्पष्ट हो जाता है। कुसंग का प्रतिषेध करते हुये रहीम कहते हैं'—

'रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि॥'

और ठीक इसी प्रकार कुसंग और सुसंग दोनों के प्रभाव का चित्र खींचते हुये तुलसीदास कहते हैं कि:—

'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा ! कीचहिं मिलइ नीच जल सङ्गा ॥
साधु असाधु सदन सुक्सारी। सुमिरहि राम देहि गनि गारी ॥'

यह तो एक उदाहरण मात्र है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपदेश के द्वारा विधेय पहलू पर ऐसा तीव्र प्रकाश डाला जाता है, जिससे उसकी ओर समाज का ध्यान आकर्षित हो जाय। इस प्रकार उपदेश के स्वर समाज के प्रागण मे स्वय घूमा करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सामने आ जाते हैं। जन-जीवन में ऐसी अनेक सूक्तियाँ, नीति तथा उपदेशपरक वचन रूढि हो जाते हैं जो एक प्रकार से पग-पग पर समाज का निर्देशन करते रहते है। उपदेशों की शैली ऐसी चुभती हुई रहती है कि समाज उसके तथ्य को विना 'ननुनच' किए स्वीकार कर लेना है। तर्क, उपदेश के सम्मुख 'पंगु' हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज का व्यवहार, जो निरंतर गति-शील रहता है, उपदेश के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता। यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सामाजिक रीतियां अथवा परम्पराएं निरन्तर विकसित होती रहती हैं। इस विकास क्रम में, उनमें कुछ न कुछ विकार आता रहता है! विकार से तात्पर्य स्वरूप के परिवर्तन से है। उनके इस परिवर्तन में समाज में प्रतिष्ठित उपदेश सहायता करता है। यदि समाज जागरूक एव सुगठित रहता है तो रीति और परम्पराओं का परिवर्तन स्वरूपानुरूप ही होता है। किन्तु मूढ एवं विशृंखलित समाज में परिवर्तन भद्दा और नीचे ले जाने वाला हो जाता है। उपदेश तत्त्व ऐसे समय उन्हें शासित करता है और उनका शोधन करके उन्हें स्वरूपानुरूप बना देता है। ऊपर हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि लोकमत परतंत्र होता है। लोकमत का आधार समाज भी परतंत्र होता है। समाज के कुछ विशेष घटकों का उस पर पूरा प्रभुत्व रहता है। एक ही समाज कुछ दिनों तक किसी एक विचारधारा, महात्मा अथवा तत्त्वदर्शी के प्रभाव में रहता है और कुछ दिनों तक किसी दूसरे पहलू पर चलता रहता है। इस प्रकार समाज का आलोडन हुआ करता है। समाज का यह आलोडन उपदेशों

की प्रेरणा से ही होता है। यह आलोडन समाज की परम्परा, रीति और अनेक व्यवहारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करता है। किन्तु यह स्मरण रहे कि उपदेशानुमोदित रीति, व्यवहार आदि सदा सत्य तत्त्व के सूत्र में पिरोया रहता। इसलिये जहाँ स्थूल रूप में इनमें हम महान परिवर्तन देखते हैं, वहाँ उनमें मूलभूत एकता भी वर्तमान रहती है। स्थूल रूप विकृत और शोधित हुआ करता है, किन्तु मूलरूप सदा अपरिवर्तनीय होता है। किसी समाज की संस्कृति इसी ऐक्य पर प्रतिष्ठित है।

उपदेश और व्यक्ति—इस प्रकार उपदेश समाज पर साक्षात् प्रभाव डालता है। व्यक्ति पर इसका प्रभाव समाज के माध्यम से पड़ता है। उपदेश से समाज का शोधन और समाज से व्यक्ति का शोधन, यह क्रम बहुत ही स्पष्ट और स्वाभाविक है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'प्रत्येक घटक अलग अलग प्रभावित होकर समाज के प्रभाव के रूप में प्रकट होता है।' यह क्रम क्यों न माना जाय? बात यह है कि उपदेष्टा के उपदेश परक वचन विश्वात्मा की भूमि से उत्पन्न होते हैं। इसलिये समष्टि की आत्मा ही इनसे प्रभावित होती है। हाँ, जिस व्यक्ति की आत्मा साधारण व्यक्ति की आत्मा से अधिक विकसित रहती है, उसके ऊपर उपदेश का सीधा प्रभाव भी पड़ता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेकों महापुरुषों ने एक ही उपदेश से मर्माहत होकर अपनी जीवनधारा को ही बदल दिया है। तुलसी का जीवन पत्नी ने बनाया और ध्रुव को ध्रुव बनाने में माता का हाथ रहा। इनके एक उपदेश पर ही दोनों इतने प्रभावित होते हैं, लगता है कि ऐसे प्रभाव की कल्पना स्वयं उपदेष्टा (पत्नी और माता) को भी नहीं थी। किन्तु इसमें तुलसी और ध्रुव की विकसित आत्मा का ही हाथ है। वही उपदेश तो हम हजारों-लाखों को प्रतिदिन मिलता है। लेकिन कितने लोग तुलसी और ध्रुव बनते हैं, यह स्पष्ट है। बुद्ध को वृद्ध, शव आदि देख कर वैराग्य उत्पन्न हो गया। हम सब सैकड़ों हजारों वृद्ध और शव देख चुके हैं, लेकिन वह प्रभाव पड़ता नहीं दीखता। कहने का तात्पर्य

यह कि उपदेश का सामाजिक महत्व अधिक है। व्यक्तिगत महत्त्व उतना नहीं है! किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति यदि उपदेशों की उपेक्षा करे, तो भी वह समाज के माध्यम से उनसे लाभ उठा लेगा। वस्तुतः बहुत ऊँचे उठे हुये समाज में भी अनेक भाति गिरा व्यक्तित्व मिलता है अरब में सब घोड़े ही नहीं होते, खच्चर और गधे भी होते हैं। उठा हुआ समाज गिरे व्यक्तित्व से घृणा करता है, किन्तु वे समाज से चिपटे रहते हैं और रमते हैं अपनी दुनिया में। उपदेश के महत्व को उपेक्षा की दृष्टि से देखने वालों की ही यह दशा होती है। तत्त्वदर्शियों के अनुभव से लाभ उठाना हमारे हाथ में है। उनके मार्मिक उपदेशों का मनन व्यक्ति को चरित्रवान बनाता है! उपदेशों का चिन्तन मनन करने से उपदेष्टा की आत्मा के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। उस आत्मा के साथ अपनी आत्मा का ऐक्य स्थापित करना ही उपदेश के वास्तविक मर्म को समझना है।

——

साधक, साधन एवं साध्य की स्वरूपाभिव्यक्ति

इन तीनों क पारस्परिक सम्बन्ध पर दृष्टिपात तथा अलग अलग इनका विवेचन उपस्थित करना जितना ही दुरूह एव नीरस है, उतना ही मनोरनक एव सरस भी। किसी भी प्रकार की क्रिया,गुण एव पदार्थ की पूर्णता में इन तीनों की समष्टगत सत्ता अनिवार्य है, यहाँ लौकिक और अलौकिक का भेद नहा है। किसी क्रिया क करन े पहले, हमारी दृष्टि साधन की ही ओर दौडती है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यह आवश्यक नहीं कि साधन का हम पूर्णत ज्ञान हो, कभी कभी हम आंशिक या दोषयुक्त साधन को ही अपना लेते हैं। फलत उसके द्वारा सम्पन्न क्रिया या तो अपूर्ण होती है या दोषपूर्ण। कभी कभी क्रिया को ही ठीक तरह से समझ न पाने के कारण ऐसी ही असफलता मिल जाती है। लोक म अनेक असफलताओं की जननी, साधन और साध्य के स्वरूप की अनभिज्ञता ही है। इसलिए क्रिया की पूर्णता का उत्तरदायित्व कर्ता की योग्यता पर ही निर्भर रहता है। उदाहरण क लिए घड़ी ले लीजिए—इस कृति (घडी) में कारीगर की योग्यता और स्वय घडी की सत्ता म क्या अन्तर है? घडी में स कर्ता की योग्यता को पृथक कर देने पर सम्भवत घडी का अस्तित्व मिट जाएगा। मुख्य साधन क निकाल देने पर साधक और साध्य का भी अस्तित्व मिट जाता है। घडी के भौतिक साधन (उपादान कारण) मुख्य साधन नहीं हैं। यह सब तो कारीगर की योग्यता क फलस्वरूप ही आये हैं, भौतिक साधनों क ऐसे सयोजन में ही मुख्य साधन निहित है। जिससे घडी को रूप मिला है। इसी बात को दार्शनिक कार्य कारण की परम्परा म दूसरे ढग से स्वीकार

करते हैं। इस सम्बन्ध में लोक में प्रचलित एक विचित्र प्रश्न को नहीं भुलाया जा सकता। वह प्रश्न है—'सँड़सी, निहाई और घना, इनमें पहले कौन बना' लोहार इन्हीं तीनों साधनों से सभी वस्तुओं को बनाता है। लोहे की किसी वस्तु के निर्माण म इन तीनों की समान रूप से आवश्यकता पड़ती है। अब प्रश्न यह है कि इन चीजों में पहले पहल किसका निर्माण हुआ? बड़ा विचित्र प्रश्न है। इसी तरह का एक प्रश्न यह भी है कि पहले बीज पैदा हुआ या वृक्ष? साधक, साधन, और साध्य में अधिक महत्व किसे है? यह प्रश्न भी कुछ इसी प्रकार का है।

साधक की महत्ता :—क्रिया का मुख्य हेतु कर्ता में और साध्य का मुख्य साधन, साधक में ही निवास करता है। उसे ही हम कर्ता की योग्यता या साधक का स्वरूप कहते हैं। कारण से कार्य कठोर कहा गया है। कार्य की यह विशेषता कर्ता की योग्यता है। निमित्त और उपादान कारणों का संयोजन कर्ता की इसी योग्यता या प्रतिभा पर निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी क्रिया के स्वरूप का आधार कर्त्ता का ही स्वरूप होता है। कवियों, कलाकारों आदि की अमरता का यही रहस्य है। कविता और कला ही उनका स्वरूप है। कुछ कुछ यही बात साध्य और साधक के सम्बन्ध म भी कही जा सकती है, भेद केवल इतना ही है कि जहाँ हमें क्रिया के स्वरूप में ही कर्त्ता का स्वरूप दिखाई देता है, वहां साधक के स्वरूप म साध्य का स्वरूप दिखलाई देता है। ता इस प्रकार साधक का महत्व और बढ़ जाता है। साधन और साध्य दोनों का स्वरूप साधक में पाया जाता है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि साधन और साध्य का संयुक्त स्वरूप ही साधक का स्वरूप है। भक्ति, भक्त तथा भगवन्त की एकता का यही रहस्य है। आचार्य शंकर ने जीव की ज्ञान साधना की पूर्णता ज्ञान स्वरूप बताई है। कभी कभी साधन ही साध्य और साधक दोनों पर हावी हो जाता है। साधक और साध्य की ज्ञानरूपता में यही बात पाई जाती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम लोक में प्रतिष्ठित एक

विशेष भावना की चर्चा करना चाहते हैं। हम रुपया इसलिये पैदा करते हैं, क्योंकि उससे हम अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ खरीद लेते हैं। वस्तुए साध्य हैं और रुपया पैसा साधन, किन्तु हम रुपये पैसे को ही साध्य मान लेते हैं, और उसी का अर्जन करना वस्तुओं का अर्जन स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं का स्वरूप ओझल हो जाता है, उनके स्थान पर रुपया पैसा आकर प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर रुपये पैसे वाले का स्वरूप भी इसी प्रकार का हो जाता है। कुछ हद तक सम्पत्तिशाली के व्यक्तित्व पर सम्पत्ति का ही प्रभाव रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य, साधन और साधक म बड़ा कौन है? या इनके स्वरूपों की विभाजक रेखा क्यों है? इसे बतलाना बड़ा कठिन है। यह सामान्य दृष्टि का काम नहीं है। इन प्रश्नों का उत्तर इनसे अलग रह कर नहीं दिया जा सकता। घायल की गति घायल ही जान सकता है। बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा नहीं जानती। इससे आगे बढ़कर शंकर ने इसीलिये ब्रह्म को अनुभवगम्य कहा और कबीर आदि सन्तों ने ब्रह्मानन्द को गूंगे का गुड़ बताया है। रुपये पैसे का क्या महत्त्व है, या उससे आवश्यक वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है, तथा हमारा इन सबसे क्या प्रयोजन है। इन सब बातों का जितना सही उत्तर हम और आप दे सकते हैं। उतना मानवेतर जाति क्या देगी, जिसने इस प्रपञ्च में पैर ही नहीं रखा है। इसीलिये प्रायोगिक ज्ञान ही विज्ञान बनता है। मस्तिष्क में ही दौड़ धूप कर रह जाने वाला ज्ञान दो कौड़ी का है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि साधक, साधन और साध्य ऊपर से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हुए भी मूलतः एक हैं। शंकर के अद्वैत का यही रहस्य है, और अनेकत्व में एकत्व के इस रहस्य का ज्ञाता ही इसके सम्बन्ध में कुछ कहने का सच्चा अधिकारी है।[१] यों हम सभी साधक हैं, किन्तु कच्चे और भूले हुये। मानव जीवन का चरम

१—ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह। तुलसी

म भी मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश दक्षता अनुकरणात्मक ही है। जीवन साधना का भी यही स्वरूप है।

साधक का स्वरूप —साधक के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से हम दो तत्त्वों का परिज्ञान होता है एक ओर वह साधना के स्वरूप के साथ एकाकार रहता है तो दूसरी ओर उसका अलग व्यक्तित्व भी होता है, जो साधना से उसे पृथक करता है। किन्तु इनका अलग अलग विश्लेषण बाल की खाल खींचना है। हरे रंग में मिले हुये काले तथा पीले रंग की तरह जैसी अनुभूति द्वारा ही वह लक्ष्य है। लौकिकता और अलौकिता, राग और विराग तथा करुणा और निष्ठुरता का अपूर्व संगम ही साधक का स्वरूप है। [१] भौतिक दृष्टि से हमारे बीच में रमता हुआ साधक जहां एक लौकिक व्यक्ति बना रहता है, वहां विचारों, भावों तथा कर्मों की दृष्टि से वह लोकोत्तर में ही भ्रमण करता है। हमारे लोक से उसका लोक भिन्न होता है, अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने लोक की बात बताता है और कर्मों द्वारा उसका प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि से अहं का चश्मा उतार कर वह इस जगत के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता है। निष्काम होते हुए भी उसे लोक-संग्रह के लिए कर्म का आश्रय लेना पड़ता है। वह लोक से विरक्त नहीं होता है। भेद दृष्टि को दूर करके वह लोक के साथ ही चलना चाहता है, किन्तु लोक का अगुआ बनकर, पिछलग्गू बनकर नहीं। यह अहं नहीं ढ़ढता है, नेतृत्व उसका स्वभाव है। कहने का तात्पर्य यह कि साधक लोक को अपना ही साथी या रूप मानता है इसलिए उसकी यह कामना रहती है कि वह (लोक) ठीक रास्ते पर चलता रहे। लोक के प्रति उसकी निरीह ममता होती है। [२] यह ममता दिव्य तथा अलौकिक होती है। हम यहाँ ऐसे साधक की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जिसकी साधना लोक से बिल्कुल परे केवल उसी के लिए

१—साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।। तुलसी
२—सब साधन नहिं रागहिं नीती, सन्त सुभाउ मरहिं मन प्रीती। तुलसी

होती है। इन्द्रिय दमन और प्रवृत्तियों का अतिशय संकोचन (अभाव) कर जो साधक साधना क्षेत्र (जगत) में हट जाते हैं, वे हमारे किसी काम के नहीं हैं। लोक के लिये ऐसे ही साधक का महत्त्व है, जिसकी साधना जगत में पल्लवित और पुष्पित होती है। उसकी ममता सूखती नहीं, ब्रह्मानन्द के अद्भुत रस से पूर्ण होकर दिव्य हो जाती है। हमारी आसक्ती तरह, बल्कि इससे भी अधिक संसार के प्रति उसकी अनुरक्ति बढ़ जाती है। भेद यही है कि हम सब जगत के कल्पित विभेदों को जगत का रूप देकर उसके प्रति अपनी दोषपूर्ण अनुरक्ति लगाते हैं। किन्तु साधक, जगत को अखण्ड तथा अपना ही स्वरूप समझ कर दिव्य अनुरक्ति करता है।

साधक का हृदय बड़ा विशाल होता है। बल्कि उसकी सिद्धि का यही स्वरूप ही है। हृदय के संकुचित रूप का धीरे धीरे विकास करना ही साधना का लक्ष्य होता है। जब हृदय का विकास उस अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ समस्त तत्त्व उसमें लीन हो जाते हैं, तब साधना पूर्ण समझी जाती है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि समस्त जगत साध्य या साधना का स्वरूप बनकर साधक के हृदय में आ विराजता है। इस स्थिति में पहुँच जाने पर लोक और साध्य में कोई भेद नहीं रह जाता है। और ऐसे साध्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर साधक भी पूर्ण हो जाता है[1]। ऐसी स्थिति में साधक का निजी सुख दुःख कुछ नहीं रह जाता[2]। लोक का सुख ही उसका सुख है और

---

१ स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥

प्रश्नोपनिषद् ६, ५

२ सम अभूतरिपु बिमद बिरागी, लोभामरष हरष भय त्यागी।
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई, जथालाभ सन्तोष सदाई॥
निन्दा स्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुंज॥

लोक का दु ख ही उसका दु ख है । इस प्रकार यद्यपि साधक निज के सुख दु ख और मानापमान से ऊपर उठ जाता है, तथापि लोक के साथ उसका अटूट सम्बन्ध रहने के कारण वह सुखी और दु खी भी हुआ करता है[१] । इसी स्थिति के कारण वह लोकहित की भावना से पूर्ण रहता है । उसका 'स्व' विकसित होकर लोक म प्रतिष्ठित हो जाता है । इस प्रकार लोकहित म वह उसी प्रकार स्थित रहता है, जसे हम सब *अपने अपने स्वार्थो की पूर्ति म । यही साधक की विशालता है ।* साधक क इस विशाल व्यक्तित्व म 'अह' का भी भाव रहता है । किन्तु इसका रूप दूसरा होता है । लौकिक 'अह' से इसकी कोई तुलना ही नहीं है । वस्तुत इसे 'आत्मशक्ति' कहते हैं । लोक में भी अह का सम्बन्ध आत्मा से ही रहता है । भेद केवल इतना ही है कि लौकिक 'अह' विषयाभिलाषी 'मन' की छाया म विकसित और जीवित रहता है । और यह आत्मशक्ति, साधना द्वारा प्राप्त, *आत्मा की वास्तविक शक्ति है ।* इसी *लिये यह निर्मल और ज्योतिमान रहती है*[२] । और लौकिक 'अह' कल्मष तथा अन्धकार पूर्ण । इस लौकिक 'अह' को अपदस्थ करके साधक उस स्थान पर आत्मशक्ति की प्रतिष्ठा करता है । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि लौकिक 'अह' को परिशोधित कर, साधना की पवित्र अग्नि में तपाकर साधक उसे ही एक दिव्य आत्म शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर लेता है । भक्तों का स्वाभिमान और ज्ञानियों का 'ब्रह्मोस्मि' इसी आत्मशक्ति का परिचायक है । कुछ लोग कबीर के स्वभाव मे

---

१ *विषय अलम्पट शील गुनाकर, पर दु ख दु ख सुख सुख देखे पर ।* तुलसी

२ कठोपनिषद् म आत्मशक्ति क स्वरूप को पूर्ण स्वाधीन बताते हुए इन्द्रियों और मन की स्थिति को इस प्रकार कहा है —

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथ ॥ १, ३, ६

यहा इन्द्रियों का विनाश नहीं है, व सारथी रथ के सिधाए घोड़े उत्तम घोड़े हो जाती है । जीवन साधना की अप्रतिहत गति से आगे बढ़ाने के लिए इन अश्वों की स्थिति अनिवार्य है ।—लेखक

अक्खड़ता, अभिमान तथा इसी प्रकार की अन्य बातों का आरोप करते हैं। वस्तुतः यह सब कबीर की आत्मशक्ति से प्रेरित स्वाभिमान का ही रूप है। यह बात थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ सभी साधकों में पाई जाती है। साधक, साधना पथ पर जिस दृढ़ता से अड़ा रहता है, वह इसी आत्मशक्ति द्वारा ही प्राप्त होती है। साध्य में साधक की अनन्यता, तल्लीनता तथा घना विश्वास भी इसी आत्मशक्ति की देन है।

साधन पथ की विशेषतायें—उपर्युक्त शब्दों में साधक के जिस स्वरूप की चर्चा की गई है, कुछ हेर फेर के साथ वही स्वरूप साधन का भी है! वस्तुतः साधक अपनी साधना से जिन गुणों का अर्जन करता है, वे ही साधन को रूप प्रदान करते हैं। साधकों के अपने अपने व्यक्तित्व के अनुसार उनकी साधना अलग-अलग हो सकती है। किन्तु उनसे प्राप्त साधनों में कोई भेद नहीं होता। साधन में साधना और साधक का स्वरूप मिला होता है। इसलिये उनके साधनों में ऊपर से अन्तर दिखलाई देता है। साध्य के स्वरूप का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। इसलिये उनमें मौलिक एकता होती है। साधना ज्ञेय पदार्थ नहीं है और न वह किसी अन्य के अनुभव की वस्तु है, साधक ही उसका अनुभव करता है साधक जब स्वयं इसका वर्णन करता है, तो वह भी स्पष्ट नहीं कर पाता। वस्तुतः वह साधना और उसके द्वारा प्राप्त साधन का मिला जुला रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। भारतीय साधना-जगत में तीन साधनपथ प्रमुख रूप से मान्य हैं, बल्कि यदि यह कहा जाए कि चौथे की कोई कल्पना ही नहीं है तो अत्युक्ति नहीं होगी। यह बात केवल भारतीय साधना-जगत पर ही नहीं लागू होती, बल्कि विश्व की साधना पर भी इन तीनों पथों का स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु यदि इन तीनों साधनों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इनमें किसी में भी स्वतंत्र साधन बनने की क्षमता नहीं है। ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वित रूप ही

वास्तविक साधन है। जिसे हम ज्ञानपथ कहते हैं, उसमें भी भक्ति तथा कर्म अनिवार्य है। ज्ञान का अपना रूप भक्ति तथा कर्म से पृथक हो सकता है, किन्तु जब वह साधन की परिधि में आता है तो भक्ति और कर्म को नहीं छोड़ सकता। इसलिये हमारी यह मान्यता है कि भक्ति और कर्म से पृथक केवल ज्ञान मात्र जैसे साधन की चर्चा वास्तविक नहीं है। यही बात भक्ति और कर्मपथ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पथ एक ही है, साधक गण उसमें अपनी साधना और व्यक्तित्व को मिलाकर उसे अलग अलग रूपों में देखते हैं। गीता में इसी समन्वित साधन पथ की चर्चा है, ज्ञानमार्गी उसी को ज्ञानप्रधान और भक्तिमार्गी भक्ति प्रधान कहते हैं। कर्मयोगी गीता में कर्मयोग का वर्णन मानते हैं, 'प्रस्थानत्रयी'[१] के द्वारा विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्तों का समर्थन किया है। इन सब अपूर्व सामंजस्य की बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे सारा जगत अखंड और एक है, भेदों की कल्पना हमारी है, उसी प्रकार साधन-पथ भी दो या तीन नहीं हैं। भेदों की कल्पना साधकों की अपनी है, किन्तु यह भेददृष्टि भ्रम नहीं है, यह तो साधक के स्वरूप चिन्तन की निष्ठा, विश्वास एवं दृढ़ता की परिचायक और स्वाभाविक है। अतः हम आगे जिस साधन पथ की चर्चा करेंगे, वह ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वित रूप है। साधक जिस साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त होता है, वह केवल बोधमात्र नहीं है, उसमें साधक का भाव और कर्तव्य भी निहित रहता है। बोध, भाव और कर्तव्य का ही परिष्कृत रूप, ज्ञान, भक्ति और कर्म है। साधन पथ को पूर्ण बनाने में इन तीनों का समान महत्त्व है। बोध से साधन पथ आलोकित तथा भ्रमरहित बना रहता है और भाव द्वारा पथिक साधक उसे रसमय बना लेता है। इससे तल्लीनता, लगन और अनन्यता बनी रहती है। कर्तव्य के द्वारा निष्ठा, जिज्ञासा तथा पथ पर बढ़ने चलने की दृढ़ता पैदा होती है। इन सब विशेषताओं से रहित किसी साधन की

१—ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्

कल्पना ही नहीं की जा सकती। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, साधन-पथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके स्वरूप का निर्माण साधक ही करता है। साधक की जीवन साधना साधन के लिए उपकरण इकट्ठा करती है और साधक उसमें अपनी अनुभूति भावना तथा क्रिया मिलाकर उसे साधन का रूप दे देता है। इसीलिये अनेक साधकों का साधन पथ मूलतः एक ज्ञात होता हुआ भी, स्वरूपतः भिन्न होता है। मीरा, सूर, जायसी, कबीर, तुलसी आदि साधकों के पथ मे पारस्परिक अन्तर ढूंढा जा सकता है। यह अन्तर ही साधक का व्यक्तित्व है। साधन से साधक का व्यक्तित्व पृथक कर देने पर उसमे जो कुछ बचता है, वही विशुद्ध साधन है, और इसी विशुद्ध साधन के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वह अनेक नहीं एक है।

उपर्युक्त बातों के कारण साधन के स्वरूप मे कुछ अनिवार्य अनुभूति साधकों को होती है। जैसे उसका अत्यन्त कठोर, दुर्गम तथा चमत्कारिक ज्ञात होना। कबीर जैसे साधकों ने तो अपनी इस अनुभूति को बहुत बार व्यक्त किया है। तुलसी ने भी कुछ हेर-फेर के साथ इसको स्वीकार किया है।[१] इसका एक कारण है। जब साधक, साधन पथ पर पूर्णत: अग्रसर हो जाता है, तभी उसे तत्सम्बन्धी वास्तविक अनुभूति होती है। इसके पहले साधक के हृदय मे साधन के जिस स्वरूप का निर्माण हुआ रहता है, वह बिल्कुल बदल जाता है। साधन के स्वरूप के सम्बन्ध में बाहर से प्राप्त ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर साधक लौ लगता है। किन्तु जब लौ लग जाती है तो पहला कल्पित स्वरूप नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर, उससे सर्वथा नहीं तो पर्याप्त भिन्न, उसका वास्तविक रूप आ जाता है। उस अवास्तविक एवं कल्पित पथ से साधक को वास्तविक पथ पर ले जाने वाला कौन सा तत्त्व है। या किन परिस्थितियों मे ऐसा हो जाता है? इसका निर्णय साधक के अनुभव पर निर्भर करता है। किन्तु तत्त्वतः ऐसे अनुभवों को

१. यहि सर आवत अति कठिनाई। राम कृपा बिनु आइ न जाई,॥ तुलसी॥

निम्नलिखित रूपों में बाटा जा सकता है। प्रथम तो इस स्थिति को उत्पन्न करने में प्रमुख हेतु साधक की साधना होती है, और इसीलिए साधक को यह अनुभव होता है कि इस पथ पर आना कोई हसी खेल नहीं है[१]। दूसरे यह कि पथ, इस चमत्कारिक ढग से आलोकित हो उठता है कि यह विश्वास नहीं होता है कि 'इसमें हमारा भी कोई प्रयत्न है' इसलिये उसे स्वतन्त्र भी माना गया है। अर्थात् साधन-पथ किन्हीं अन्य उपसाधना की अपेक्षा नहीं रखता, वह अपने द्वारा ही लभ्य है।

किन्तु सिद्ध साधक का साधन की इस दुर्गमता की अनुभूति भूतकालिक अनुभूति जैसी होती है। उसकी तात्कालिक अनुभूति तो आनन्दस्वरूप होती है। साधन पथ उसे दुखदायी नहीं, सुखदायी प्रतीत होने लगता है। फिर तो साधक को प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे सामान्य व्यक्तियों की आसक्ति लोक के ऐन्द्रिक विषयों में स्वाभाविक होती है, उसी प्रकार साधन पथ पर बढते चलना और उसके प्रति साधक की अनुरक्ति स्वाभाविक हो जाती है[२]। साधक को उस पर

---

१. कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहिं। कबीर।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोप०
१।२।७
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। कठोप०
१, २, १२
कठोपनिषद् ने प्राणिमात्र को उद्बोधन करते हुए इस प्रकार स्मरण किया है।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। १, ३, १४
धीरा परिहरन्त्यनन्तरस्पृशन्ति त्वा श्रावसावन मनीषा ॥ ऋग्वेद

२. कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥ तुलसी

चलते रहने से रस विशेष (ब्रह्मानन्द) की अनुभूति होती है। साधन पथ की यह सरसता जब चरम परिणिति पर पहुँच जाती है तो साध्य के प्रति साधक उदासीन हो जाता है। बल्कि इसी को यों कहा जा सकता है कि साधन पथ ही मंजकर साध्य का रूप ले लेता है। यद्यपि वह साध्य से भिन्न होता है। यहाँ पहुँच कर साध्य को प्राप्त करने की जिज्ञासा तथा उसके प्रति साधक की निष्ठा मूक हो जाती है। इसी स्थिति के कारण भक्त, भक्ति को और ज्ञानी, ज्ञान को ही साध्य स्वीकार कर लेता है। यज्ञ को ही ब्रह्म बतलाने का भी यही रहस्य है। यह साधन पथ की चरम अवस्था है, इसीलिये यह भी कहा जाता है कि यह साधनावस्था नहीं, सिद्धावस्था है। इस प्रकार साधन के स्वरूप को विकास-क्रम से निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है।

१. वह कल्पित स्वरूप, जिसके आधार पर साधक, साधना का प्रारम्भ करता है।

२. कल्पित स्वरूप का विनाश और उसके स्थान पर वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति तथा दुर्गमता और चमत्कार का अनुभव होना।

३. साधन-पथ की सरसता और उसके प्रति गाढ़ी अनुरक्ति।

४. साधन की चरम अवस्था अर्थात् सिद्धावस्था।

उपर्युक्त विकास-क्रम को अध्ययन की दृष्टि से रखा गया है। वस्तुतः साधन-पथ खंड-खंड करके या किसी क्रम से नहीं देखा जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें उपर्युक्त सभी बातें अनिवार्यतः उपस्थित हों हीं।

साध्य की स्थिति—साधक की सिद्धावस्था तथा साधन की चरम परिणिति ही साध्य का स्वरूप है। साधक जहां साध्य के स्वरूप का चिन्तन करता है, वहीं अपने स्वरूप का भी चिन्तन करना उसकी अनिवार्य स्थिति होती है। बल्कि साध्य-चिन्तन की अपेक्षा स्वरूप-चिन्तन को विशेष महत्व दिया जाता है। साध्य और स्वरूप की चिन्तना जब एकाकार हो जाती है, तभी सिद्धावस्था आती है। इस प्रकार साध्य का

निजी अस्तित्व बहुत कुछ अज्ञात है। साधनावस्था में साधक, साध्य के जिस स्वरूप का चिन्तन करता है, वह बहुत कुछ अस्पष्ट रहता है। आगे चलकर वह जिस साध्यस्वरूप का साक्षात्कार करता है, वह इससे सर्वथा भिन्न साधक का निजी साध्य होता है। सभी साधकों के साध्य में पारस्परिक विभिन्नता का यही रहस्य है। उदाहरण के लिये तुलसी के राम, कबीर के राम तथा गाधी के राम मूलतः एक होते हुये भी साधक भेद से परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार सूर, मीरा और हितहरिवंश के कृष्ण में भी महान अन्तर है। इस अन्तर का कारण साध्य में साधक के स्वरूप का एकीकरण है। यही अन्तर साधनों मे भी पाया जाता है। ईसा की अहिंसा, गाधी की अहिंसा, बुद्ध और महावीर की अहिंसा सब एक होते हुये भी परस्पर सर्वथा भिन्न है। किन्तु इस भिन्नता में मूलतः जो एक्य है, वही साध्य की वास्तविक स्थिति है। इस स्थिति का प्रत्यक्षीकरण साधक में ही होता है। साधक को अलग रखकर केवल साध्य का साक्षात्कार करना किसी साधक के लिये भी सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि साध्य का कोई विशेष महत्व नहीं है! साधना-क्षेत्र के इतिहास का मनन करने पर साध्य के सम्बन्ध में हमें तीन प्रमुख धारणाओं का पता चलता है। पहली तो यह कि वह (साध्य) कभी एक नहीं रहा। उसकी स्थिति सर्वदा बदलती रही है। प्राकृतिक तत्त्वों से लेकर शून्य तक को साध्य माना गया है। दूसरे यह कि इस अनेकता में ही एकता की स्वीकृति सर्वदा मिलती रही है[1]। तीसरी यह कि उसके चिन्तन या साक्षात्कार की अभिव्यक्ति सदा मूक रही है[2]। कोई ऐसा सर्वमान्य

---

१. इन्द्र मित्र वरुणमग्निम हुरथो दिव्यस्सगरुत्मान् ।
एकं सद्विप्राबहुधा वदन्त्यग्निं, यम मातरिश्वानमाहु. । ऋग्वेद ॥
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति ॥ निरुक्त दैवतकान्ड

२. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
कठोपनिषद् : २, ३, ९
राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर ।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह ॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी ॥ तुलसी

साध्य निश्चित नहीं हो सका है, जिसके सम्बन्ध में दो मत न हों। इसका परिणाम यह हुआ है कि साधना-क्षेत्र में जिज्ञासा की स्थिति सुदृढ़ हुई है। और इसके कारण पर्याप्त गम्भीरता, मनन एवं निदिध्यासन की प्रतिष्ठा भी हुई है। इसी गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप विभिन्न साध्यों में ऐक्य की प्रतिष्ठा सम्भव हुई।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्य आधार होते हुए भी साधना-क्षेत्र में साध्य का कोई विशेष योग नहीं है। साधक और साधन का उच्च विकास साध्य की स्थिति है। जब साधना-क्षेत्र में साध्य की इस स्थिति को भुला दिया जाता है तो कृत्रिमता, पाखंड और दिखावे को प्रोत्साहन मिलता है। बुद्ध ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद का खण्डन इसीलिए किया था। उस समय 'अहम्ब्रह्मोऽस्मि' तथा 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' इत्यादि वक्यों के पीछे साधना लुप्त हो चुकी थी। वस्तुतः 'अहमेव ब्रह्म' यह कथन या ऐसा मान लेना साध्य की स्थिति नहीं है[१], जिन अनुभूतियों ने साधक को इस कथन के लिए प्रेरणा दी है, उन अनुभूतियों के मूल मे ही वास्तविक साध्य की स्थिति है। तुलसी के 'सियाराम मय सब जग जानी' इस कथन का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार की स्थिति से यह कथन अभिव्यञ्जित हुआ है, वह स्थिति ही वास्तविक है। अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में महान अन्तर होता है। वाणी की अभिव्यक्ति द्वारा साध्य-स्वरूप की अनुभूतियों का आकलन या निर्धारण नितान्त भ्रम पूर्ण है। साधक स्वयं इस बात का अनुभव करता है। जब अनुभव करने वाला ही उसकी वास्तविक

---

१. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ कठ० २, ३, १२
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्''कठो१०
१, २, २३॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई''तुलसी।

अभिव्यक्ति में अपने को असमर्थ पाता है तो यत्कथंचित् आह्लाद के प्रवाह में कथित साधकों की वाणी के आधार पर साध्य का स्वरूप निर्धारण कहाँ तक उचित है। हाँ, उस वाणी के आधार पर हम अपनी जिज्ञासा और तदनुसार साधना को प्रेरणा दे सकते हैं। साधकों की वाणी का यही फल भी है। भौतिक विज्ञान की तरह आध्यात्मिक खोजों का पूर्णतः लाभ सर्वसामान्य जन नहीं उठा सकता। और न साधक ही अपनी खोज किसी को इस प्रकार सौंप सकता है, जिस प्रकार अणुरहस्य की खोज दूसरे को सौंपी जा सकती है। साधना-क्षेत्र की स्थिति को लोक में प्रचलित एक कहावत से समझा जा सकता है। जिसमें कहा गया है कि 'निज मरण के बिना स्वर्ग (मरणोत्तर स्थिति) नहीं देखा जा सकता।' लोक में भी लेन-देन या विनिमय पदार्थ का होता है, गुण का नहीं। गुण तो निज प्रयत्नों द्वारा ही अर्जित किया जा सकता है। साध्य भी साधक की साधना द्वारा अर्जित इसी प्रकार का तत्त्व है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन पर सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना क्षेत्र में साधक की ही स्थिति सबसे सुदृढ़ और स्थायी है। साधन और साध्य का प्रभाव या सत्ता साधक पर ही निर्भर है।

तर्क, विचार और ज्ञान

मानव द्वारा अर्जित ज्ञान-राशि में तर्क और विचार का बहुत महत्वपूर्ण योग है। तर्क, विचारों का वाहन है। और विचार ही परिनिष्ठित होकर, परिपक्व होकर ज्ञानरूप में परिवर्तित होता रहता है। ज्ञान-क्षेत्र में मानव ने जो इतनी उन्नति की है, उसके विकास का क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। हम अपने विचारों को तर्कों तथा युक्तियों द्वारा निर्भ्रान्त बनाते हैं। और फिर लोक में तदनुकूल प्रयोग और अनुभव उसे ज्ञान की कोटि में पहुंचा देता है। विचार और ज्ञान में विभाजक रेखा खींचना सरल नहीं होता है। ज्ञान विचारों पर टिका हुआ प्रतीत होता है और, विचार भी ज्ञान पर ही अवलम्बित दिखलाई देता है। दोनों का यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कैसे संघटित होता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब हम यह कहते हैं कि 'अमुक के अमुक सम्बन्धी विचार बहुत उच्च हैं।' तो उसका अर्थ होता है कि वह व्यक्ति एतद् सम्बन्धी ज्ञान का आश्रय है। ठीक इसी प्रकार, जिसे हम ज्ञानवान समझते हैं, उसके विचारों को मूल्यवान मानते हैं। सच तो यह है कि विचार, ज्ञान की अभिव्यक्ति होता है। यहां विचारों के इस पहलू पर विचार करने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि इसके निर्माण में तर्क का कहां तक योग है और स्वयं तर्क क्या है?

तर्क के सम्बन्ध में लोगों में बहुत भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं। यद्यपि विचार-क्षेत्र में इसकी अनिवार्यता का समर्थन सभी करते हैं किन्तु जिस रूप में आज इसकी प्रतिष्ठा विचारकों में है, वह कुछ अच्छी नहीं कही जा सकती। यद्यपि यह बुद्धिवादी युग है। फिर भी तर्क को जो स्थान विचार-क्षेत्र में मिलना चाहिये, वह नहीं मिल रहा है। इसका एक कारण है। जिस प्रकार भाषा 'माध्यम रूप' में विचारों का वाहन है,

उसी प्रकार तर्क 'शैली रूप' म विचारों का वाहन है । भाषा स्थूल, सीमित तथा अनेक है। किन्तु तर्क सूक्ष्म, नि सीम तथा एक है। लेकिन दोनों का विकास क्रम एक तरह का ही है। जैसे भाषा विविध जनपदों को प्लावित करती हुइ नदी क। धारा की तरह अपने रूप को बदलती चलती है, उसी प्रकार तर्क भी विचारों क बीहड़ पथ पर चलता हुआ अनेक रग बदलता रहता है। और जिस प्रकार इन विभिन्नताओं के रहते हुये भी किसी एक देश की विभिन्न भाषाओं में आभ्यन्तरिक (प्रकृतिगत) एकता वर्तमान रहती है, उसी प्रकार तर्क के विस्तृत और विविध रूप क अन्तर म अविच्छिन्नता रहती है। जब कोइ भाषा बहुत दिनों तक किसी जनपद क विचारों को ढोती हुइ, व्याकरण या इसी प्रकार क अन्य बन्धनों से जकड उठती है, तो वह अलग हो जाती है और उसकी मूल धारा आग जाकर इसस बहुत पृथक दिखलाई देती है। पहली भाषा जन जीवन क नूतन विचारों से दूर हो जाती है और उसका कवल ऐतिहासिक महत्व रह जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कोई तर्क शैली बहुत काल तक विचारों का सस्कार करती हुई रूढ हो जाती है या अनक शास्त्रीय बन्धनों से अवरुद्ध हो जाती है, तो वह वहीं समाप्त हो जाती है। मानव विचार निरन्तर प्रवहमान रहता है। इसलिये उसे वैसी ही भाषा और वैसी ही तर्क शैली चाहिये, जिसकी गति अप्रतिहत रूप से आग बढ रही हो। शास्त्रीय विचारों से वेष्टित 'तर्क शैली' आगे आने वाले विचारों का भार नहीं वहन कर सकती। उदाहरण क लिए न्यायशास्त्र क द्वारा निर्देशित तर्कशैली आज के अनक विचारों को ठीक ठीक नहीं स्पष्ट कर सकती। किन्तु जैसे भाषा को परिमार्जित, सुबोध, सम तथा सक्षम बनाने क लिए कुछ नियमों तथा मर्यादाओं को मान्यता देनी ही पड़ती है, उसी प्रकार नितान्त उच्छृङ्खल, बेढगा, और अस्त व्यस्त तर्क, तर्क नहीं कुतर्क है। तर्क को सुव्यवस्थित विचारों के उपयुक्त बनान क लिये कुछ नियमों को स्वीकार करना आवश्यक है। तर्क के स्वरूप पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालने

से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

तर्क बुद्धिकी शक्ति है—तर्क बुद्धि की शक्ति है, अथवा यों कह सकते हैं कि बुद्धि के चलने-फिरने, सोचने समझने तथा काम करने का ढंग है। बुद्धि जितनी ही प्रखर तथा शक्तिशाली होती है। उसका यह ढग भी उतना ही सक्षम होगा! बुद्धि की गम्भीरता तर्क को प्राजल बनाती है। और उसकी चचलता तर्क को गन्दा कर देती है। बुद्धि की चचलता अज्ञान को प्रकट करती है। स्थितधीः को मुनि कहा गया है। सत् ज्ञान की ओर उन्मुख बुद्धि प्रतिभा कहलाती है। प्रतिभा में बुद्धि की विलक्षण ग्राहकता शक्ति भी सन्निहित होती है। इस प्रकार प्रतिभा, बुद्धि और तर्क का आपस में बहुत ही सम्बन्ध है। प्रतिभा तो बुद्धि का अग स्वरूप एक उत्तम गुण है। और तर्क, बुद्धि के समस्त गुणों का उपयोग करने वाला ऐसा तत्त्व है, जिसके बिना बुद्धि का कोई उपयोग ही नहीं है। तर्क को प्रश्रय न देने वाली बुद्धि दो ही होती है। एक तो वह है जो पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके शान्ति हो जाती है और दूसरी वह है, जो अज्ञान के घने अन्धकार में बैठे रहने में ही अपना कल्याण समझती है। 'स्थितिधीः' की बात तो अलग है। उसकी बुद्धि हृदय के साथ, आत्मा के स्वरूप में मिलकर अन्तर्निहित हो जाती है। इसीलिये वहा तर्क, विचार, भाव तथा सवेग आदि की कोई गन्ध ही नहीं रहती। चित्त के ज्ञान स्वरूप की प्रतिनिधि बुद्धि है और आनन्द स्वरूप का प्रतिनिधि हृदय। चित्त अथवा चेतना का प्रतिनिधि मन दोनों की बात मानता है। बुद्धि सगत बात को भी वह मानता है और हृदय की अनुभूति को भी ग्रहण करता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हृदय अनुभूति के द्वारा आत्मा के आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है और बुद्धि, तर्क के द्वारा आत्मज्ञान को विचारों के रूप में परिवर्तित करती है। तर्क का यही उचित स्थान है। और उसे यह महत्वपूर्ण स्थान मिलना ही चाहिये।

यह सम्भव हो सकता है कि हमारा उपर्युक्त विवेचन तर्कशास्त्र

की दृष्टि में खरा न उतरे। किन्तु यह सच है कि शास्त्रीय बन्धनों में बधी हुई, नपी-तुली विचार सरणि ही वास्तविक विचार सरणि नहीं है। किन्हीं शास्त्रीय नियमों में आबद्ध तर्क कुछ सीमित विचार को ही परिमार्जित करता है। मानव विचार की प्रवहमान धारा को गति प्रदान करने वाला तर्क मूल रूप से स्वतत्र है। वह किसी बन्धन में बधकर सकुचित नहीं हो सकता। उसका सकुचित रूप, विचार के किसी एक भाग पर ही प्रकाश डालता है। स्वच्छन्द, उन्मुक्त तथा सम्पूर्ण विचार धारा को ग्रहण करने की शक्ति तदनुरूप तर्क में ही सम्भव है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्न तर्कशास्त्रियों ने तर्क की जो परिभाषा बनाई है, वह सही सही तर्क के स्वरूप को प्रकट नहीं करती। ज्ञान-पिपासु की जिज्ञासा तर्क के द्वारे ज्ञानार्जन करती है। इसीलिए ज्ञान का साधन होने के कारण उसका ऐसा ही महत्त्व है। गौतम का पहला सूत्र है।

प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, बाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छलजाति, निग्रहस्थाना, तत्त्वज्ञानात्, निःश्रेयसाधिगमः।

इसमें यद्यपि प्रमाण, प्रमेय को ही मुख्य मानकर शेष को उनका अग माना गया है। किन्तु यह समस्त विचार-सरणि मूलतः तर्क का शरीर है। इस सूत्र में उल्लिखित तर्क, विचार सरणि के किसी एक अग का बोधक है। जैसा ऊपर कहा गया है, जिज्ञासा की शान्ति के लिए बुद्धि द्वारा जो कुछ भी प्रयत्न, ऊहापोह, अनुमान, कल्पना की जाती है, वह सब तर्क है। जिज्ञासा जब तक बनी रहेगी, तब तक तर्क की आवश्यकता पड़ेगी ही, ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा बिना तर्क के जीवित ही नहीं रह सकती। इस प्रकार तर्क, जिज्ञासा के साथ एकाकार होकर ज्ञानार्जन में महत्त्वपूर्ण योग देता है। हाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब पूर्ण ज्ञान की स्थिति में जिज्ञासा स्वतः निर्मूल हो जाती है तब तो तर्क को रोकने या उसे दबाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। क्योंकि जिज्ञासा के पीछे छाया की तरह रहने वाला तर्क उस स्थिति

में स्वयं लोप हो जाता है; किन्तु कभी-कभी यह कहकर कि 'सभी बातों में तर्क नहीं काम देता' या 'तर्क तो अप्रतिष्ठित है।' उसे रोकने या दबाने की चेष्टा की जाती है। यह स्थिति उचित नहीं है। व्यवस्थित तर्क का अवरोध तब तक नहीं होना चाहिए, जब तक जिज्ञासा की स्थिति बनी हुई है। कुछ लोग तर्क को कोरा बुद्धि विलास या कल्पना का टूटा-फूटा जाल मानकर उपेक्षित कर देते हैं। यह स्थिति भी चिन्त्य है। सम्भवतः ऐसे लोग तर्क के वास्तविक रूप और उसके महत्व को नहीं जानते। तर्क बुद्धि की उड़ान या कोरी गप मात्र नहीं है, यह बात उसके उपजीव्य तत्वों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाती है।

ज्ञान और विज्ञान—वस्तुतः तर्क का आधार ज्ञान होता है। ज्ञान का अर्थ केवल जानकारी मात्र नहीं है। ऐसी जानकारी जो प्रयोग और अनुभव की कसौटी पर खरी उतर चुकी हो, वही उत्तम ज्ञान है। इसे आजकल की भाषा में विज्ञान कहा जा सकता है। जिसे हम विचार प्रकट करने की वैज्ञानिक शैली कहते हैं, वह तर्क के विस्तृत वक्षस्थल पर ही विहार करती है। एक ज्ञान दूसरे अन्य ज्ञानों को प्रकाशित करता है। जब तक पूर्ण ज्ञान की स्थिति नहीं आ जाती, तब तक इन छोटे मोटे आंशिक ज्ञानों का यही फल है। एक ज्ञान जब दूसरे ज्ञानों पर प्रकाश डालता है तो वह इसी तर्क के सहारे विचारों के माध्यम से ऐसा करता है। इस प्रकार तर्क एक सुचिन्तित तथा निर्भ्रान्त ज्ञान को ही आधार मानकर आगे बढ़ता है। जिस तर्क का आधार इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता। वह कुतर्क है और ज्ञान के क्षेत्र में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तविक तर्क दो ज्ञानों के बीच की वह शृङ्खला है, जिससे दोनों का सम्बन्ध अक्षुण्ण हो जाता है। सुचिन्तित और परीक्षित पहले ज्ञान के साथ नवागत ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करके तर्क उसे भी प्रयोगार्ह बना देता है। हीरे के मर्म को समझने वाला विशेषज्ञ कोयले की खान से कोयले और दूसरे पत्थरों में सिमटे हुए हीरे को अलग कर देता है और फिर वह खराद पर चढ़ाकर उसके वास्तविक

स्वरूप को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार अज्ञानान्धकार में छिपे हुए ज्ञान के कणों को तर्क टटोल लेता है। विशेषज्ञ की वह विलक्षण दृष्टि अनेक छोरों के मर्म को साक्षात् रूप में समझ लेने के बाद ही निष्पन्न होती है। इसी प्रकार पहले सच्चे ज्ञान पर आधारित तर्क ही वास्तविक ज्ञान को प्रकाशित करने में समर्थ होता है। तर्क और विचार के सम्बन्धों पर दृष्टि डालने के पहले विचार के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

विचार क्या है—विचार क्षेत्र में विचार के स्वरूप पर अभी बहुत कम विचार किया गया है। वस्तुतः इसके एक सिरे पर तर्क और दूसरे सिरे पर ज्ञान इस तरह चिपका हुआ है कि इन्हें अलग करके विचार के मूल स्वरूप का विवेचन करना बहुत कठिन हो जाता है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, किन्तु अज्ञान का आवरण उसके इस स्वरूप को पूर्णतः ढके रहता है। अज्ञान के घेरे में बन्द ज्ञान-राशि जब घटनाओं, दृश्यों अथवा अनुभूतियों से आलोडित हो जाती है, तो ज्ञान के कुछ कण आवरण का भेदन करने लगते हैं। इस प्रकार जब चेतना किसी नये ज्ञान के प्रति उद्बुद्ध होती है तो विचार-स्रोत फूट पड़ता है। आन्तरिक चिन्तन में विचार-स्रोत बहुत ही स्पष्ट तथा गम्भीर होता है। क्योंकि वह भाषा के माध्यम से नहीं चलता। जब विचारक अपने विचार को दूसरे को प्रदान करने की दृष्टि से भाषाबद्ध करता है, तो उसके मूलरूप में उसे पर्याप्त संस्कार करने पड़ते हैं। इस संस्कृत रूप में भाषा, शैली तथा अन्य स्थूल आधार बहुत सी अपनी चीज मिला देते हैं। किसी विचारक के मस्तिष्क केन्द्र में उठने वाले विचार का जितना स्पष्ट रूप वह विचारक देख सकेगा, उतना दूसरा नहीं। एक छोटा सा उदाहरण दे देने पर यह विषय साफ हो जाएगा। ताजमहल की प्रशंसा सुनकर मोहन के हृदय में उसे देखने की लालसा उत्पन्न होती है। अपनी लालसा की पूर्ति के लिए उसने आगरा जाने का निश्चय कर लिया। जगदेव ने ही ताजमहल की ओर उसे आकर्षित किया था।

इसीलिए उससे ही पूरे मार्ग का ब्यौरा पूछकर, समझकर वह चल पड़ता है। मार्ग में अनेक जगह वह भूलता है, भटकता है, किन्तु जगदेव के द्वारा बताये गये आधार पर वह भूलों को ठीक करता हुआ आगरा पहुँच जाता है और ताजमहल का दर्शन करके अपनी लालसा को मूर्त करता है। यहाँ यदि ताजमहल को ज्ञान, मोहन को चेतना, जगदेव को गुरु, मार्ग को विचार और गमन क्रिया को अनुभूति तथा मार्ग शोधन की दृष्टि को तर्क मान लिया जाय तो, अच्छी तरह से तो नहीं, किन्तु कुछ-कुछ रूपक बैठ जाता है।

उपर्युक्त रूपक में मार्ग की तुलना विचार से ठीक नहीं बैठती। ताजमहल का दर्शन हो जाने पर भी मार्ग, मार्ग ही रह जाता है, उसमें कुछ नूतनता नहीं आती। हाँ एक बार का अनुभव हो जाने पर वह निश्चित और निभ्रान्त हो जाता है। ऐसे अनुभूत, निश्चित और निर्भ्रान्त विचार को सिद्धांत कहते हैं। अब वह विचार नहीं रह जाते। विचार का मूल अर्थ है चलायमान। सिद्धांत चलायमान नहीं होता। विचार बदलते रहते हैं, सिद्धान्त नहीं बदलता। विचारों का बदलना स्वाभाविक है, किन्तु सिद्धांत का बदलना असम्भव है। जो सिद्धांत बदलता रहता है, उसे हम सिद्धान्त नहीं कह सकते। विचार वही बदलते हैं, जिनमें तर्क की कैंची से काट छाँट नहीं हुई रहती। खराद पर चढ़े हुये हीरे का स्वरूप अन्तिम है। अब उसमें कुछ परिवर्तन लाने की गुञ्जाइश नहीं रहती। यदि हीरे के स्वरूप में किसी ने परिवर्तन कर दिया तो कहा जाएगा, खराद अच्छे ढंग से नहीं हुई थी। ठीक इसी प्रकार जो सिद्धांत बदलते रहते हैं, उनके सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि उनपर अच्छी तरह से विचार नहीं किया गया था। अर्थात् तर्क ने पूरा काम नहीं किया है या तर्क के स्थान पर कुतर्क ने अड्डा जमा लिया था। तर्क दूषित हुआ तो विचार दूषित होंगे और दूषित विचार दूषित सिद्धांत को जन्म देंगे। वस्तुतः दूषित विचार सिद्धांत की उत्पत्ति कर ही नहीं सकते। वे बन्ध्या हो जाते हैं, ऊसर हो जाते हैं। ऐसा हो जाने

पर ज्ञान का ठिकाना कहाँ रहता है। यदि ठीक मार्ग पहचानने की दृष्टि नहीं रही और गलत मार्ग पकड़ लिया तो आगरा के ताजमहल का नहीं, मरुभूमि की मृगमरीचिका का दर्शन होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के क्षेत्र में विचार का कितना स्थान है। किन्तु स्वयं विचार का स्वरूप अभी अस्पष्ट है। विचार को समझने के लिये हमें एक दूसरे उदाहरण की शरण लेनी पड़ेगी। बच्चा प्रारम्भ में जब किसी वस्तु के प्रति आकर्षित होता है तो उसे छूकर, चखकर, उलट पलट कर, और तोड़-फोड़ कर समझने की चेष्टा करता है। ज्ञानाभिमुख चेतना भी ज्ञान को इसी प्रकार प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। चेतना का यह प्रयत्न ही विचार है। बच्चे का प्रयत्न वस्तु से नितान्त भिन्न होता है। जैसे मार्ग गन्तव्य स्थान से नितान्त भिन्न होता है। किन्तु विचार, ज्ञान से नितान्त भिन्न नहीं होता। जो विचार सिद्धान्तरूप में परिवर्तित हो जाता है, वह ज्ञान का अंग बन जाता है अथवा यों कह सकते हैं कि वह विचार, ज्ञान का मूर्त रूप हो जाता है। गोत्व या घटत्व का ज्ञान तत्सम्बन्धित विचार से अलग नहीं दिखाई देता। जब हम किसी सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हैं तो वह तत्सम्बन्धी ज्ञान का आलोडन ही होता है। ज्ञान का विवेचन, उसका विवरण उपस्थित करना, अथवा उसके स्वरूप का चित्रण विचारों की कोटि में आता है। विचार जब तक सिद्धान्त नहीं बन जाता, तब तक उसकी स्थिति घी मिश्रित दही के समान रहती है। दही का आलोडन कर घी, अलग कर लेने पर जो मठा बच जाता है, उसका महत्त्व कम हो जाता है। उसका महत्त्व तभी तक है जब वह तक दही के रूप में मक्खन का आश्रय बना हुआ है। किन्तु मट्ठे को भी मक्खन का आश्रय होने का महत्त्व प्राप्त ही रहता है। मक्खन का बहुत कुछ अंश उसमें बचा भी रहता है। मथानी में इतनी शक्ति नहीं रहती कि वह दही का सारा घी अलग कर सके। इसी प्रकार विचारों का आलोडन करके सिद्धान्त रूप में कुछ तत्त्व अलग कर दिये जाते हैं किन्तु, आलोडित विचारों में

भी बहुत सा तत्त्व बच रहता है। जो विचार सिद्धान्त नहीं बन पाते, मट्टे के रूप में उनका यही महत्त्व है।

विचार की लहरियां—वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रकाश की लहरियाँ होती हैं। विचार की भी लहरियां होती हैं। एक विचार दूसरे को उत्तेजित करते हैं। जैसे जल की एक लहर दूसरी को जन्म देकर स्वयं उसी में विलीन हो जाती है। कुछ कुछ उसी प्रकार दूसरे विचारों को जन्म देकर पहला विचार भी उसी में अनुस्यूत रहता है। एक बात और है, विचार की लहरें जहां एक ओर बढ़ती जाती हैं, वहीं दूसरी ओर अपना दिशा के विपरीत या इधर उधर गमन करने वाली विरोधी विचार-लहरियों से वे लड़ती झगड़ती भी चलती हैं। कभी कभी विचारों का यह द्वन्द, समुद्र के ज्वार भाटों जैसा बड़ा भयानक रूप धारण कर लेता है। ऐसे मौके पर सच्चे ज्ञान पर आधारित तर्क बड़ा काम देता है।

उपर्युक्त विवेचन से तर्क और विचार के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। इसीलिए अब दोनों के सम्बन्ध पर विचार कर लेना आवश्यक है। जैसा पहले कहा गया है, तर्क विचारों का शोधन करता है। इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध आलोचक और कवि अथवा आलोचना और कविता के सम्बन्ध का तरह है। किन्तु आलोचना केवल आलोचना मात्र रहती है। सुधार में उसका हाथ नहीं होता। कवि आलोचक के निर्देशों पर चलने के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु विचार तर्कों के सहारे ही चलता है। इसीलिए कोई भी तर्क इस अपने मूल उद्देश्य में असफल नहीं होता। तर्क का उदय अपनी सफलता अपने साथ लाता है। अर्थात् वह विचारों में उलट-पलट कर ही देता है। इसीलिए कुछ लोग तर्क से घबराते हैं। सत् विचारों को प्रकाशित करने वाले तर्क से घबड़ाना नहीं चाहिए। लेकिन तर्क और कुतर्क की परख आवश्यक है। तर्क स्वतन्त्र नहीं है, वह पूर्व ज्ञान के अधीन होता है। इसीलिए पूर्व ज्ञान की दृढ़ता पर ध्यान देना चाहिये।

कच्चा ज्ञान परिपक्व विचार को जन्म नहीं दे सकता; क्योंकि वहां तर्क नहीं कुतर्क रहता है। इस प्रकार वास्तविक तर्क विचारों का शोधक है। विचार उसके अधीन रहता है। तर्क, विचारों के उपवन का माली है। उसे अधिकार है कि वह उपवन की शोभा वृद्धि के लिए तथा अभीष्ट पुष्पों के निर्बाध विकास के लिए अपनी कैंची चाहे जस पर फेर दे। तर्क जिस विचार को छांट देता है वह सूख जाता है। तर्क कैंची ही नहीं, माली भी है। इसलिए उसके हृदय भी है। अर्थात् तर्क, बुद्धि सापेक्ष तो है ही, हृदय निरपेक्ष भी नहीं है। तर्क को हमेशा अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। अनुभव अनुभूति की चीज है। इसलिये तर्क शुष्क कैंची ही नहीं है, सहृदय माली भी है। अभीष्ट विचारों को जीवन दान देना ही उसका काम है। विचारों के प्रति उसकी अपनी ममता होनी है। तर्क अभीष्ट विचारों को जन्म देकर उन्हें पालता-पोषता है। उसके एक हाथ में कैंची और दूसरे हाथ में जलपूरित घट रहता है। असत् विचारों के प्रति वह दया नहीं दिखलाता और सद् विचारों को कुम्हलाने भी नहीं देता।

जैसा पहले कहा गया है, विचार लहरियों के रूप में उठते हैं। एक लहर से दूसरे लहर को सम्बद्ध करना तर्क का काम है। अनेक विचार मल कर किसी ज्ञान को पूर्ण बनाते हैं। इस प्रकार विचारों की लड़ी को एक में जोड़ने का काम तर्क करता है। मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि में एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है, जो मस्तिष्क में आये हुए विचारों तथा ज्ञानों को क्रमबद्ध करके उन्हें व्यवस्थित रूप देती है। तर्क बुद्धि की इसी शक्ति की देन है। विचार स्वयं तो मूक होते हैं वे एक दूसरे के प्रति तनिक भी लगाव नहीं रखते। किन्तु उन सबमें कहीं न कहीं अभिन्नता वर्तमान रहती है। इन अभिन्नताओं को खोजकर आपस में उनका सम्बन्ध स्थापित कर देना तर्क का काम है। इस प्रकार तर्क विचारों की माला गूंथता है और सम्बन्ध स्थापना की दृष्टि से सूत्र की

तरह सबमें वर्तमान रहता है। अनेक विचारों का पुंजीभूत रूप किसी परिपुष्ट ज्ञान को जन्म देता है। इस प्रकार विचारों का दोहन करके उन्हें फलवान अर्थात ज्ञान रूप में परिवर्तित करने का बहुत कुछ श्रेय तर्क को है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति

माँ की गोदी में सुख से बैठा हुआ बच्चा और उसे बाहों में समेटे हुए उसकी तोतली वाणी में मग्न माँ, दोनों ही जिस तुष्टि का अनुभव करते हैं, उसे इन दोनों के अतिरिक्त और कौन जान सकता है। बच्चे पर शिकारी का आक्रमण होते देखकर सिंहनी का रोम-रोम जिस भावना से झंकृत हो उठता है। उसे कौन बता सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भावना कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसे देखा, सुना या नापा जोखा जा सके। वह अनुभव की वस्तु होती है। यदि हम किसी दिन सुबह से शाम तक का अपना हिसाब रखें, तो यह देखकर हम आश्चर्य चकित हो जाएँगे कि क्षण क्षण पर हम भावनाओं की तह में डूबते उतराते रहते हैं। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मन प्रतिक्षण अनुभूतियों में ही चक्कर लगाया करता है। गाढी निद्रा में भी वह अनुभूति से शून्य नहीं होता। सोकर उठने पर हम एक प्रकार की तुष्टि का अनुभव करते हैं। यह तुष्टि निद्राकालिक अनुभूति है। न्यायशास्त्र का मत है कि मन को सुषुप्ति काल में आत्म सयोग-जनित अनुभूति होती है और जागने पर इसी का साक्षात्कार हम करते हैं। अनुभूति का मूल स्वरूप आत्मा में ही रहता है। इसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणिमात्र का जीवन असख्य अनुभूतियों से प्रतिक्षण प्रकंपित होता रहता है। ससार की हलचल इन अनुभूतियों का परिणाम है। यह दूसरी बात है कि इन असख्य अनुभूतियों में कुछ इनी गिनी ही विशेष महत्त्व की होती हैं। हमारे जीवन में कुछ घटनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं, वे ही हम याद भी रहती हैं। बाकी साधारण घटनाएँ भूल जाती हैं। उनमें से कुछ का स्मरण हमें किसी विशेष परिस्थिति के पडने पर पुन हो जाता है। नहीं तो अधिकाश लौटकर फिर नहीं आतीं। इसका कारण अनुभूति का कम या तीव्र होना ही है।

इस प्रकार अनुभूति का अधिकांश, बल्कि कुछ को छोड़कर सभी भाग यों ही समाप्त हो जाता है। अनुभवकर्ता के अतिरिक्त उनकी जानकारी या सूचना भी किसी को नहीं मिलती। और अनुभवकर्ता भी कुछ क्षणों के पश्चात् उन्हें भूल जाता है। उदाहरण के लिए हम अपने घर से सायकिल पर दस मिनट में अपने कार्यालय पहुँच जाते हैं। इतनी छोटी अवधि में ही रास्ते में सड़क की ऊँची-नीची तथा टूटी-फूटी स्थिति की, किसी रोते हुए बच्चे के विकृत चेहरे की, अस्पताल से दवा लिये जाते हुए रोगियों की दयनीय स्थिति की, और न जाने किन अनेक बातों की अनुभूति हमें होती है। किन्तु इनमें से मुश्किल हम कुछ भी नहीं कर पाते। हाँ, जिस दिन हम मोटर के नीचे आकर भी सफलता पूर्वक बच गये थे, उस दिन की अनुभूति स्थायी हो गई है। इस प्रकार की किसी दुर्घटना की चर्चा के समय अथवा उस घटनास्थल पर पहुँचने पर वह अनुभूति जाग्रत हो जाती है। किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में घटना के समय हुई थी। उसमें का अधिकांश भाग अब नष्ट हो गया है। वस्तुतः यह अब अनुभूति नहीं है। अनुभूति का स्मरण मात्र है। एक बार जो अनुभूति होती है, पुनः ठीक उसी प्रकार की अनुभूति सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि अगणित सामान्य अनुभूतियों का महत्त्व हमारी दृष्टि में कुछ नहीं होता। कुछ तो इतनी मन्द तथा वैयक्तिक होती हैं कि अनुभव काल में भी उनका हम पर कुछ प्रभाव पड़ता नहीं दीखता।

किन्तु सामान्यतः कोई भी अनुभूति चाहे वह प्रत्यक्ष में नगण्य ही क्यों न हो, व्यर्थ नहीं जाती। प्रतिक्षण की ये अनुभूतियाँ ही हमारे जीवन का निर्माण करती हैं। हमारा जीवन जिस वातावरण में चलता रहता है, उसी से उसका निर्माण भी होता है। मन, जो मानव जीवन का सब कुछ है और जिसके हाथ में ही जीवन की बागडोर होती है, वह इन अनुभूतियों का ही पुंजीभूत रूप है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह अनुभूतियाँ ही मन का स्वरूप हैं, बल्कि यह कि मन के स्वभाव, उसकी

शक्ति और गति पर इन अनुभूतियों का ही प्रभाव पडता है। एक प्रकार की परिस्थिति मे कई व्यक्तियों की अनुभूति एक सी नहीं होती। देवदत्त अपनी निन्दा सुनकर तमतमा उठता है और निन्दक की अनुपस्थिति म ही उससे लडने र लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है, किन्तु मोहन ऐसा परिस्थिति में हसकर उसे टाल देने की कोशिश करता है। जगदेव उत्सुकतापूर्वक अपनी निन्दा की कहानी को स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की विभिनता का रहस्य क्या है। स्पष्ट है कि इनके मन का स्वरूप समान नहीं है। मन के स्वरूप की यह विषमता विभिन्न प्रकार की अनुभूति द्वारा ही निर्मित है। और मन ही व्यक्ति के जीवन और उसके व्यक्तित्व को बनाता है। कहने का तात्पर्य यह कि हम जिस प्रकार की अनुभूतियों से प्रतिक्षण निकलते रहते हैं, उन सबका कुछ न कुछ प्रभाव हम पर पडता रहता है और हम तद नुसार ही बनते बिगडते चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सामान्य से लेकर तीव्रतम अनुभूतियों का सामान्य प्रभाव बहुत ही व्यापक तथा अमोघ है। इसलिए मानव जीवन में इनका बहुत महत्त्व है। इसे ही संस्कार कहते हैं।

अनुभूति का एकात अनुशीलन बहुत ही दुरूह है। गहराई से देखने पर कोई दो अनुभूति एक सी नहीं दिखलाई देती। बात यह है कि जिन बाह्य हलचलों का प्रभाव अनुभूति को रूप देता है, वे भी इसी प्रकार की हैं। अर्थात् ससार की कोई भी दो हलचल एक सी नहीं होती। यह सम्भव है कि किसी दिन हमारे सामने एक ऐसी घटना घटी हो, जो कुछ दिनों बाद फिर उसी रूप में और उन्हीं परिस्थितियों मे घटित हुई, किन्तु प्रभाव और अनुभूति के क्षेत्र में इन दोनों में महान अन्तर होता है। पहली के नयेपन और दूसरी के पुरानेपन का अन्तर ही थोड़ा नहीं है। फिर, पुरानी घटना में भी ऐसी सूक्ष्म नूतनता छिपी हुई है। जो पहली में नहीं थी। इस प्रकार दूसरी पहली से नितान्त भिन्न होती है। कहने का तात्पर्य यह कि एक अनुभूति दूसरी से इतनी भिन्न होती है कि

उनका किसी साम्य के आधार पर वर्गीकरण सम्भव नहीं है। हां जब यह अनुभूतियां तीव्र रूप धारण करके भाव के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं तो हम उनको अधिक पहचान पाते हैं और तब उनकी विभिन्नता भी स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन भावों को सुखात्मक, दुःखात्मक सीमाओं में बांध लिया जाता है। कुछ लोग अनुभूतियों को भी सुख-दुःखात्मक मानते हैं। किन्तु अनुभूति के शुद्ध रूप को उपाधिधारी नहीं बनाया जा सकता। अनुभूति और भाव में यही अन्तर है। शुद्ध अनुभूति केवल अनुभूति है, वह सीमातीत और निरुपाधि है। वह चिर-पुरातन और चिरनवीन है, वह अनादि और अनन्त है, उसे किसी लक्षण से नहीं पुकारा जा सकता। भावों की परिभाषा से भिन्न होते हुये भी अनुभूति उनमें पूर्णतः व्याप्त होती है। अंगूठी की परिभाषा से भिन्न होते हुए भी उसमें स्वर्ण ही भरा हुआ है। स्वर्ण से पृथक अंगूठी का अस्तित्व नहीं है। और जो है भी (आकृति आदि) वह स्वर्ण की तुलना में क्षण-भंगुर, कृत्रिम और नगण्य है। भावों की भी यही दशा है, जिसे हम सुख या दुःख कहते हैं, वह अनुभूति से पृथक् कुछ भी नहीं है। यही भाव आगे बढ़ कर संवेगों की सृष्टि करते हैं, जिन्हें हम क्रोध, भय, आदि नामों से पुकारते हैं। जिस प्रकार विभिन्न रंगों की शीशियों में भरा हुआ पानी, उन शीशियों के ही रंग का प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार शुद्ध अनुभूति हमारे मन में ढल कर उसी के रंग में रंग जाती है। यही कारण है कि जब हमारा हृदय अनुभूति को ग्रहण करता है तो उसके दो रूप, सुखात्मक और दुःखात्मक हो जाते हैं। जैसे जल कभी कभी जमकर ठोस पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। और कभी वायु में मिलकर रूप विहीन हो जाता है। उसी प्रकार अनुभूति भी विभिन्न रूप बदला करती है। अनुभूति का यह स्वरूप शुद्ध नहीं है। शुद्ध अनुभूति का रूप अखण्ड और एकरस है। अभी हमने ऊपर अनुभूति की जिस विषमता और विभिन्नता का उल्लेख किया है वह हमारे कारण है। जैसे शीशी के कारण जल का रंग बदल जाता है।

जल का रूप विहीन होकर वायु मे सम्मिलित हो जाना या जम कर बर्फ हो जाना उसी प्रकार है, जैसे अनुभूति मनोविकारों, भावों और संवेगों के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

वायु में जल का अस्तित्व जल के वास्तविक गुण से मिलता है। वायु की शीतलता उसकी अपनी नहीं है, वह जल का गुण है। वायु केवल स्पर्शवान होती है। शीतलता या गर्मी दूसरे पदार्थों का अस्तित्व है। काव्य म अनुभूति का यही रूप रहता है। पानी से लदी हुई भाप टकराकर बरस पड़ती है। अनुभूति भी बरसती है। और तब वह रस रूप में हमारे सामने साकार हो उठती है। काव्यानन्द की अनुभूति उस शुद्ध और अखण्ड अनुभूति का ही वह संस्करण है, जिसे कवि, लोक में साकार करता है। निर्गुण,निराकार ब्रह्म को, भक्त सगुण,साकार रूप में उपस्थित करके जिस प्रकार सामान्य व्यक्तियों को भी उसकी एक सुखद झाँकी दे देता है, उसी प्रकार शुद्ध और अखण्ड तथा एकरस अनुभूति को कला के माध्यम से उपस्थित कर कलाकार उस आनन्द रूप को साकार कर देता है। निर्गुण, निराकार ब्रह्म, सगुण, साकार भी है। यह ठीक उसी प्रकार लगता है, जैसे अनुभूति कला या काव्यानन्द के रूप मे परिवर्तित होती है। काव्यानंद अनुभूति का ही व्यक्त रूप है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में यही भेद है। काव्य अभिव्यक्ति है। कवि अपने वातावरण से प्रेरणा लेता है। लोक में, सामान्य व्यक्तियों के जीवन में सुख दु:खात्मक विभिन्न अनुभूतिया छायी रहती हैं। कवि भी तो इसी स्थिति मे होता है। तो फिर हमारी और उसकी अनुभूति में अन्तर ही क्या है। क्या कवि जिस किसी भी अनुभूति से प्रेरणा लेकर काव्य की सृष्टि करता है और उनसे प्राप्त काव्यानन्द अपने उद्देश्य और रूप को पूर्णत प्राप्त करता है। इत्यादि प्रश्नों पर यहा विचार कर लेना आवश्यक है। यहा हम यह स्वीकार करते हैं कि इन सामान्य सोपाधिक, सुख दु:खात्मक अनुभूतियों में ही कवि उस मूल शुद्ध अनुभूति की खोज करता है। और उसे ही वह साकार करता

है। कवि की साधना उसे ऐसी दृष्टि देती है, उसे ऐसा मन और हृदय प्रदान करती है। जिसके कारण वह किसी भी परिस्थिति में उपाधियों का विच्छेद करके मूल अनुभूति को पकड़ लेता है। मूल अनुभूति सुखरूप है। लेकिन उस प्रकार का नहीं, जैसा लौकिक सुख। यह तो प्रतिद्वन्दो से रहित अखंड और एकरस है। काव्य में हमें जो आनन्द मिलता है, वह कवि द्वारा संस्कृत होकर आता है। इसलिए लौकिक सुख की तरह वह भी प्रतीत होता है।

एक बात और है, अनुभूति आत्मा से पृथक् कोई अन्य तत्त्व नहीं है। जैसे आत्मा ज्ञान स्वरूप है, वैसे ही वह आनन्द स्वरूप भी है। यह आनन्द ही तो अनुभूति है। जैसे आत्मा का ज्ञान मायाच्छादित होकर तिरोहित सा लगता है, वैसे ही यह अनुभूति और तज्जन्य उसका आनन्द स्वरूप भी। काव्य इस स्वरूप की झलक देता है। इसलिये काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना गया है। 'रसो वै सः' का यही तात्पर्य है। समस्त जीवों में निहित आत्मा के आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति ही काव्य का मुख्य लक्ष्य होता है। किन्तु वाणी के माध्यम से यह काम होने के कारण कुछ सीमित हो जाता है। क्योंकि वाणी स्वयं सीमाओं में आबद्ध है। काव्य की अपेक्षा संगीत व्यापक अनुभूति लाता है। इसलिये अभिव्यक्ति में संगीत का स्थान काव्य से ऊंचा है। वस्तुतः अनुभूति जब अभिव्यक्ति के रूप में आती है, तो उसका रूप बदल जाता है। वह साकार होने के कारण कुछ कुछ सोपाधिक हो जाती है। उसका वास्तविक रूप अभिव्यक्ति नहीं अनुभूति में ही है। तुलसीदास ने एक स्थल पर इसी को इस ढङ्ग से व्यक्त किया है।

'रामहिं चितव भाव जेहि सीया,
सो सनेह सुख नहिं कथनीया।
उर अनुभवति न कहि सक सोई,
कवन भांति बरनइ कवि कोई।'

स्वरूप ज्ञान का जो रूप है, अनुभूति का वही स्थान है। उसे किसी के माध्यम से नहा जाना जा सकता। अनुभूति को हम ज्ञान स्वरूप भी कहते हैं। यद्यपि इस कथन को काव्यानन्द के सम्बन्ध में ठीक ठीक नहा लागू किया जा सकता तथापि यह सत्य है कि काव्य की ही अनुभूति क्यों न हो, वह ज्ञान स्वरूप ही होती है। और इस प्रकार लौकिक अनुभूतिया भी ज्ञान ही होती हैं। कुछ लोगों का मत है कि काव्य की अनुभूति ज्ञान शून्य होती है। उनका तर्क है कि नाटक देखने मे यदि हम बुद्धि की विवेचना शक्ति को भी लगायें तो आनन्द ही न मिले। बुद्धि व विवेक को ठुकरा कर ही वहा कल्पित पात्रों के हर्ष विस्मय के साथ हम वास्तविक तादात्म्य स्थापित करते हैं और इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति करते हैं। किन्तु तनिक गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर इस कथन में कोई बल दिखाई नहीं देता। रसमग्न करने वाली घटनाए नहीं होती हैं और न पात्र ही अनुभूति को प्रेरणा देते हैं। यह हमारे ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। घटनाओं और पात्रों म कवि द्वारा सन्निहित ऐसे तत्त्व जिन्हे हम सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के नाम से पुकारते हैं, वे ही रसरूप की अनुभूति जाग्रत करते हैं। उन तत्त्वों का ज्ञान जाने अनजाने श्रोता, पाठक या दर्शक को रहता है। तभी वह तादात्म्य स्थापित करता है। प्रत्येक काव्य से प्रत्येक व्यक्ति आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। पाठक, श्रोता या दर्शक के सामान्य ज्ञान के स्तर का ही काव्य उसे लाभान्वित कर सकेगा। यही बात सगीत या अन्य कलाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सगीत से कुछ विशेष प्रकार के पशु तथा सर्प भी मुग्ध हो जाते हैं। वस्तुत उन्हे सगीत की सहज स्वर लहरियों का ज्ञान होता है। अन्यथा सभी पशु क्यों नही रस लेते। भैंस के आगे बीन बजाकर देखिये। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की पृष्ठिभूमि पर ही अनुभूति जाग्रत होती है। अर्जुन के व्यक्तित्व का ज्ञान न रहने पर हम उनके सुख दु ख के साथ तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकते हैं। वस्तुत. अर्जुनत्व का ज्ञान ही अनुभूति के रूप में परिवर्तित

होकर रसमय हो जाता है। रामत्व का ज्ञान ही तत्सम्बन्धित घटनाओं में अवगाहन करके अनुभूतिमय हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से अनुभूति के सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है।

१ अनुभूति का शुद्धरूप अखण्ड, एकरस तथा आनन्दमय है। यह आत्मा का स्वरूप है।

२ मायाच्छादित अनुभूति सुख दुखात्मक दो रूपों म प्रतिभासित होती है। यही बढ़ कर भाव, मनोविकार तथा सवेग का रूप धारण करती है।

३ काव्यगत (या कलाओं से उत्पन्न) अनुभूति, जो बढ़कर रसों का रूप धारण करती है, वह मायाच्छादित अनुभूति से भिन्न शुद्ध अनुभूति का साकार रूप है।

४ उपर्युक्त सभी अनुभूतियां ज्ञान स्वरूप भी होती हैं। अर्थात् सबके साथ ज्ञान की अनिवार्य उपस्थिति रहती है।

(५) अनुभूति व्यक्त नहीं की जा सकती, अनुभव द्वारा ही उसका साक्षात्कार सम्भव है।

इस पाचवें रूप पर विशेष विवेचन की आवश्यकता है, क्योंकि अनुभूति का स्वभाव है व्यक्त होना, जैसे ज्ञान का स्वभाव है, प्रकाशित होना। इसलिए अनुभूति व्यक्त होना चाहती है। मानव इतिहास बताता है कि उसकी अधिक शक्ति अनुभूति को व्यक्त करने के प्रयास में ही लगी है। एक बात और है, अभिव्यक्ति के साधनों की सृष्टि प्राणी ने केवल निज विवेक से सम्भव नहीं है। वस्तुत प्राणी की शक्ति के विभिन्न स्रोतों या उद्‌गम स्थानों पर अनुभूति अपना प्रभुत्व जमा लेती है। और जब जिसकी आवश्यकता हुई, उसे ही प्रयोग में लाती है। उदाहरण के लिए अनुभूति कभी आँखों के रास्ते निकलती है, कभी रोम-रोमों के माध्यम से अपना अस्तित्व प्रकट करती है। अधिक तीव्र होने पर वाणी क द्वारा व्यक्त होती है। अधिक करके अनुभवकर्ता

को अभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष प्रारम्भिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। मानव अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा अथवा समस्त शक्ति से अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण करता है। रोकर, हँसकर, गाकर, चिल्लाकर, छटपटा कर, नाच कूदकर और न जाने किन-किन भावों, अनुभावों द्वारा वह अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। इनमें से कुछ तो स्पष्ट ज्ञात होती हैं कि मानव ने इनका निर्माण, सुधार, संस्कार किया है, किन्तु कुछ मानव शक्ति से परे की बात होती हैं। हँसना, रोना या भाव-भंगी आदि ऐसे ही साधन हैं। यह, स्पष्ट सूचित करते हैं कि अनुभूति स्वयं व्यक्त होने का प्रयास करती है। अभिव्यक्ति के मूल साधनों को और जीव तो ज्यों के त्यों अपनाये हुए हैं, किन्तु मानव ने इनमें पर्याप्त सुधार, संस्कार कर उन्हें अधिक सक्षम बना लिया है। अभिनय-कला के द्वारा उसने शरीर की अंगचालन क्रिया को अधिक शक्तिशाली बनाया है और वाणी में तो उसने अभूतपूर्व उन्नति की है। वस्तुतः जिस प्राणी में जितनी तीव्र अनुभूति होती है, वह जितना अधिक संवेदनशील होता है, उसकी अभिव्यक्ति के साधन भी उतने ही उच्च एवं सक्षम होते हैं। प्राणिमात्र की अभिव्यक्तियों के साधनों में परस्पर जो विभिन्नता है, उसका यही कारण है। अत्यधिक ज्ञान-सम्पन्न (बुद्धिमान) होने के कारण मानव ने अनुभूति के महत्त्व को समझा और इसीलिए उसने इसके व्यक्तीकरण के लिए प्रयास भी बहुत किया। अनुभूतियों और तज्जन्य विचारों के आदान-प्रदान से मानव जगत् की कितनी उन्नति हुई है, इसके लिए उसका इतिहास ही प्रमाण है। मानव को ऊपर उठाने वाले तथा उसे जीवन प्रदान करने वाले विभिन्न तत्त्वों में अभिव्यक्ति का प्रमुख स्थान है। इसीलिए जैसे-जैसे अन्य क्षेत्रों में मानव का विकास हुआ, वैसे-वैसे अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी वह आगे बढ़ता गया। साहित्य, संगीत तथा विभिन्न कलाओं की उत्पत्ति का यही रहस्य है। महात्मा भर्तृहरि ने मानव के लिए इनका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा :—

साहित्य संगीत—कलाविहीन ॥
साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीन ॥

यहां प्रश्न यह होता है कि जब अनुभूति का स्वभाव ही व्यक्त होना है तो फिर उसके लिये प्रयास की क्या आवश्यकता है। इसके समाधान लिये हमें अनुभूति की चौथी विशेषता पर ध्यान देना होगा। हमारी ज्ञान शक्ति, जितना बन्धी रहती है, तदनुकूल ही अनुभूति भी होती है। अनुभूति का व्यक्त होना, आत्मा का ज्ञानस्वरूप है। आत्मा के ज्ञान स्वरूप पर अज्ञान का आवरण चढा हुआ है। वह ज्यों-ज्यों हटता है, हमारी अनुभूति जाग्रत होती है। हमारा 'स्वरूप ज्ञान' तिरोहित तथा सुप्त रहता है। अनुभूति भी सुप्तावस्था में होती है। जैसे-जैसे हमें अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, वैसे वैसे हमारी अनुभूति भी स्पष्ट होती जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण एक साधना है। किन्तु मायाच्छादित लौकिक सुख दु खात्मक अनुभूति में यह प्रयत्न भी दूषित हो जाता है। शरीरादि सम्बन्धी ज्ञान तक ही यह सीमित रहती है। इसलिए अहकार के स्वरूप में ही अभिव्यक्तीकरण का प्रयास यहाँ वर्तमान रहता है। मनोविज्ञान में 'आत्मस्थापन' नाम की जिस प्रवृत्ति का उल्लेख है, वह अभिव्यक्तीकरण के प्रयास का ही छद्म रूप है। आत्मस्थापन की यह प्रवृत्ति ही यदि सस्कृत एव विकसित होकर आत्म प्रकाश के रूप में बदल जाय तो स्वरूप की वास्तविक अभिव्यक्ति हो जाय।

साहित्य और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध अभिन्न है। इसलिये इस विषय का विश्लेषण करके समझने की आवश्यकता है। जब अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण सम्भव नहीं है तो साहित्य को, हम अभिव्यक्ति क्यों मानें। दूसरे, स्थिति से स्पष्ट है कि यह अभिव्यक्ति ही है। तो फिर इसका सामञ्जस्य कैसे बैठे। कवि जिन अनुभूतियों के फलस्वरूप काव्य की सृष्टि करता है, काव्य से हममें वे अनुभूतियां जाग्रत होती हैं। इसलिए हम समझते हैं कि काव्य अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

किन्तु वस्तुतः काव्य अनुभूति का व्यक्त रूप नहीं है। काव्य अनुभूति को व्यक्त करने का सुधारा और सवारा हुआ प्रयत्न है। हम इस प्रयत्न के माध्यम से उस अनुभूति को समझ लेते हैं। सिर पर बड़ा गट्ठर लिये हुये दबा हुआ-सा व्यक्ति देखकर हम उस गट्ठर के भारीपन और उसके फलस्वरूप उसके वाहक के श्रम का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उस श्रमिक की अनुभूति का साक्षात्कार सम्भवतः ठीक ठीक वही कर पाता है, जो उसी की तरह एक श्रमिक है। ठीक इसी प्रकार किसी कवि की अभिव्यक्ति से हमारे अन्दर कवि जैसी अनुभूति तभी उत्पन्न होगी, जब हम कुछ कुछ कवि के समान ही हृदय, वाणी और वातावरण रखते हों। अंग्रेजी की कविता से हम क्या प्रभावित होंगे, जबकि हम ए० बी० सी० डी० का ज्ञान ही नहीं रखते। दार्शनिक काव्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। तारों की झलमलाहट से महादेवी के हृदय में जो अनुभूति हुई, क्या वैसी ही अनुभूति भौतिक विज्ञानवेत्ता के हृदय में उनकी अभिव्यक्ति के द्वारा जाग्रत हो सकती है। स्पष्ट है कि कवि जैसे दृष्टिकोण के बिना हम कवि की अभिव्यक्ति से कोई लाभ नहीं उठा सकते। नाटक, उपन्यास, या अन्य ऐसे काव्यों में हमें जो आनन्द मिलता है, उसका कारण यह है कि हम कवि के दृष्टिकोण के साथ ठीक ठीक चलते रहते हैं। 'दृष्टिकोण' नाम मैंने समझने की सुविधा से रख दिया है। वस्तुतः अनुभूति को ग्रहण करने की शक्ति जितनी संस्कृत तथा व्यापक एवं परिमार्जित होती है, उतनी ही आगे बढ़ बढ़ती है। कवि के अभिव्यक्तीकरण का प्रयास जब तक हमारे प्रयासों से मिलता रहता है, तब तक उस प्रयास के द्वारा हममें अनुभूति जाग्रत होती रहती है। जहां कवि का प्रयास हमारे अपने प्रयासों से ऊँचा उठने लगता है। वहीं हम खिसक पड़ते हैं और कवि आगे बढ़ जाता है। पूरा पूरा उसका साथ उस जैसा कवि हृदय ही दे सकता है। प्रारम्भ में रहस्यवादी कविताओं का जो विरोध हुआ, उसके मूल में यही रहस्य है। तो इससे यह स्पष्ट हो गया कि अनुभूति व्यक्त न होते हुये

भी व्यक्तीकरण के प्रयासों द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँच जाती है।

इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान तथा दर्शन ने भी अपने अपने ढङ्ग से विचार किया है। मनोविज्ञान का कहना है कि एक बार जिस प्रकार की अनुभूति हमारे हृदय में जाग्रत होती है, दूसरी बार अन्यत्र जाग्रत उस अनुभूति के व्यक्तीकरण के प्रयास से हम उसका साक्षात्कार कर लेते हैं एक दूसरे के सुख-दुःख को समझने की यह प्रक्रिया है। वेदनाओं में जब आंसू बाहर आ जाते हैं तो वे ही हृदय के पसीने के फूट जाने के प्रमाण बन जाते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि आंसू कब गिरते हैं। हम स्वयं आंसू गिरा चुकते हैं, तभी आंसू के मर्म को समझते हैं। सर्वाधिक सुलझी हुई मान्यता है, वेदान्त दर्शन की। उसकी मान्यता है कि समस्त जगत् में एक ही तत्त्व व्याप्त है। माया के बन्धनों ने अनेकता उत्पन्न कर दी है। जहां तक वह तत्त्व बन्धन मुक्त होता है, वहां एक सी स्थिति में होता है। जिन अंशों में विभिन्न जीवों में एकत्व की मात्रा वर्तमान रहती है, उन अंशों तक अनुभूति में भी एकता रहती है। मानव मानव की अनुभूतियों में एकता है। हम एक दूसरे के दुःख से समान प्रभावित होते हैं। हमारे विचार समान होते हैं। पशुओं की कोटि अलग है। वे अपने ही सुख-दुःख तक या बहुत करके अपने कुछ सीमित पुत्र आदि के सुख-दुःख तक सीमित रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारी आत्मा, हमारा हृदय तथा मन ही अनुभूतियों के व्यक्तीकरण के प्रयत्नों से उसे पकड़ने की चेष्टा करता है। उसमें जितना ही सुधार होगा, हम उतनी ही व्यापक अनुभूति को ग्रहण कर सकेंगे। अभिव्यक्ति के उपर्युक्त सगठन को सुधारने का साधन भी सुधरे हुये व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जा चुका है। साहित्य हृदय को सुधारता है। काव्य की अभिव्यक्ति हृदय को विशाल बनाने का उपक्रम है, जिससे उसका ऐक्य सम्भव हो सके। इस प्रकार अभिव्यक्ति अनुभूति का सम्बल लेकर हमारी जीवन साधना को पल्लवित और पुष्पित करती है।

सौन्दर्य और उसका मूल्य

सौन्दर्य के सम्बन्ध में सौन्दर्य शास्त्र ने और सौन्दर्य के उपासक साहित्यकारों ने बहुत कुछ कह डाला है। साहित्य तो 'सत्यम्' और 'शिवम्' के साथ 'सुन्दरम्' की प्रतिष्ठा करके ही अपने को पूर्ण मानता है। किन्तु यह सौन्दर्य कौन सी बला है, इस पर बहुत कम विचार किया गया है। कुछ विचारकों ने इस ओर दृष्टिपात किया है, किन्तु वे उसके अन्तः और बाह्य स्वरूप तथा बोध की प्रणाली मात्र पर अटके रह गये। सुन्दरता क्या है और क्यों वह प्रिय लगती है? इत्यादि प्रश्न अभी उलझे हुए हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं हो सका है कि सौन्दर्य का हमारे लिए क्या उपयोग है! यदि सौन्दर्य आँखों को और उसके माध्यम से मन को सुखी मात्र बनाता है, तो उसका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि आँखें दूसरे साधन (प्रियदर्शन) से भी सुखी हो लेती हैं और मन अनेक ऐन्द्रिक विषयों को पाकर अपने को सुखी मान लेता है। सत्य अपने ढंग का अकेला है और शिवम् भी उससे कम महत्व नहीं रखता। तो फिर 'सुन्दरम्' को भी कुछ इसी कोटि का होना चाहिए। इन्द्रिय-तुष्टि मात्र ही 'सुन्दरम्' का उपयोग बहुत निम्न बात है। कोई पदार्थ या तत्त्व सत्य है, इससे बढ़कर उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण हो सकता है और कोई पदार्थ या तत्त्व 'शिव' है, इससे बढ़कर उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है, किन्तु 'सुन्दरम्' के अस्तित्व का तथा उसकी उपयोगिता का क्या प्रमाण है, यह विचारणीय विषय है।

दूसरी बात यह है कि स्वयं 'सुन्दर'तत्त्व क्या है! यह किसी पदार्थ में रहने वाला गुण विशेष है या हमारी भावना का आरोप मात्र है। यदि यह किसी पदार्थ पर आश्रित गुण विशेष है तो उस पदार्थ के अनेक धर्म

भी उसमें सम्मिलित होने चाहिए। पदार्थ की अनित्यता, नियता का प्रभाव उस पर भी पड़ना चाहिये। इसलिए 'आश्रित' के स्वरूप को ठीक तरह से समझने के लिए आश्रय-तत्त्व का विवेचन भी आवश्यक है। और यदि वह हमारी भावनाओं का आरोप मात्र है, तो इस आरोप की प्रक्रिया और उसके रहस्य का उद्घाटन आवश्यक है। किन्तु यहां बहुत से दूसरे प्रश्न भी उपस्थित हो जाते हैं। जैसे सौन्दर्य का बोध किसे होता है? उसका आश्रय उसे किस दृष्टिकोण से देखता है? वह देखता है या नहीं? उसे सौन्दर्य का बोध होता है या नहीं? और यदि सौन्दर्य के सम्बन्ध में उसके आश्रय को कोई बोध नहीं होता तो फिर सौन्दर्य का द्रष्टा या उसका बोध करने वाला कौन है? उसका सौन्दर्य के साथ क्या सम्बन्ध है? क्यों वह किसी तत्त्व को सुन्दर मानता है? अथवा सौन्दर्य से पृथक द्रष्टा का अस्तित्व है या नहीं। इस प्रकार के अनेक प्रश्न सौन्दर्य के सम्बन्ध में उठ खड़े होते हैं। जिनके सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रकरण में हम सौन्दर्य के इन पहलुओं पर विचार तो करेंगे ही, हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि सौन्दर्य का हमारे लिए वास्तविक मूल्य क्या है।

कोई वस्तु सुन्दर लगती है और कोई वस्तु प्रिय लगती है, इन दोनों भावों में बहुत कम अन्तर है। हमें जो वस्तु प्रिय लगती है, वही सुन्दर भी। इसी प्रकार जो वस्तु हमें सुन्दर लगती है, वह प्रिय हो जाती है। किन्तु सौन्दर्य और प्रियता के इन दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर है। जब स्वार्थसिद्धि प्रियता का हेतु बनती है, तो प्रिय वस्तु का सौन्दर्य-बोध अस्थायी और मोहग्रस्त होता है और जब सौन्दर्य, प्रियता का हेतु बनता है तो स्वार्थसिद्धि बाद में उपस्थित होकर इन दोनों ने साथ जुड़ जाती है। दोनों ही स्थिति में सौन्दर्य में प्रियता वर्तमान है। किन्तु एक 'सौन्दर्य-प्रेम' कहलाएगा और दूसरा 'स्वार्थ-प्रेम'। किसी सुन्दर वस्तु के सामने पड़ने पर हमारे मन में दो भाव उठते हैं। प्रथम तो वह हमें प्रिय लगती है और दूसरे उसके अपने सम्बन्ध पर भी हम एक नजर डाल

लेते हैं। यदि वह वस्तु हमारे स्वामित्व के दायरे में होती है, तो उसके सौन्दर्य पर ही हम नहीं अटके रहते, अपितु उसकी उपयोगिता को भी अपने भावों के साथ मिला लेते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य, उपयोगिता और स्वामित्व की समष्टि जब अनुकूल भावों का सृजन करती है, तो हम सुखी हो जाते हैं। किन्तु यदि वस्तु हमारी सीमा के बाहर है, तो सौन्दर्य और उपयोगिता का भाव कुछ दूसरा ही हो जाता है। वस्तु का सौन्दर्य हम में ईर्ष्या को जाग्रत करता है और उसकी उपयोगिता हमारी लिप्सा को बढ़ाती है। यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि वस्तु में आश्रित सौंदर्य और उपयोगिता का परस्पर क्या संबंध है। यदि एक दूसरे पर आश्रित है, तो एक की हानि से दोनों की हानि हो जाती है और यदि दोनों की सत्ता पृथक पृथक है तो भी एक की हानि का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात साफ हो जायगी।

हम तीन वस्तुओं को एक साथ देख रहे हैं। अनेक रंग विरंगे फूल गलबाही देते हुए एक दूसरे से चिपटकर गुच्छे का रूप धारण किये हुए हैं। उन्हें गले के रास्ते पेट में उतारने का उपक्रम करती हुई शीशे की चमकदार गिलास, सीट के एक कोने में हंस रही है। दूसरी ओर रंग-विरंगे कई वस्त्रों को पहने, गुड़िया जैसी अनामिका (कन्या) फर्श पर इधर उधर चहक रही है और सामने बारजे की दीवाल पर हरिश्चन्द्र मिस्त्री ने जो चित्रकारी अपनी लोहे की कूची से कर दी है, उसमें कुछ धुँधले रंगों को छिपाये हुए गुलाब का फूल नीरव और शुष्क हास बिखरा रहा है। तीनों ही अपने अपने ढंग से हमें सुन्दर लगते हैं। किन्तु प्रिय मुझे अनामिका ही है। क्योंकि यदि वह फूल के गुच्छे के लिए मचल पड़ती है तो हम गुच्छे को उसे देकर उसके सौन्दर्य की बलि कर देते हैं। अनामिका के हाथों उसका तिल तिल करके विनष्ट होना हम बड़े चाव से देखते हैं मूक दीवाल का पाषाणी, शुष्क गुलाब का तो कोई मूल्य ही नहीं है। यहाँ विचारणीय यह है कि पुष्प का

गुच्छा हमें प्रिय नहीं था तो हमने उसे बड़ी यतन से घर में स्थान कैसे दिया। क्या अनामिका द्वारा विनष्ट हो जाने के लिए ही मैंने पुष्पों को प्यार किया है, सम्भवतः नहीं। क्योंकि जिस समय मैंने उस गुच्छे को अपनाया था, उस समय उसके नष्ट होने की कल्पना भी मैं नहीं कर सका था। रास्ते में जब एक गाय उसे खाने के लिए लपकी, तो जी सन्न हो गया। निश्चय ही यदि उस समय गाय गुच्छे को नोंच लेती तो मेरा कलेजा तुन्न जाता। किन्तु उसे ही जब अनामिका नोछने लगी, तो कलेजा दो हाथ बढ़ गया।

उपर्युक्त उदाहरण के प्रकाश में यदि हम सौन्दर्य और प्रियता के पारस्परिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करें तो इस सम्बन्ध की कई गांठें खुल जायगी। मान लीजिए आप माली की दूकान पर बैठे हैं और अच्छे अच्छे फूलों को एकत्र कर उन्हें गुच्छे के रूप में परिवर्तित करने का उपक्रम कर रहे हैं। इतने में गाय झपटती है तो आप अपने चुने हुए फूलों को सभाल लेते हैं। किन्तु माली की डलिया से वह अच्छा खासा ग्रास लेकर घायल पुष्पों को धूल में बिखेरती हुई भाग जाती है। गर्द और पेट्रोल की गन्ध उड़ाता हुई कार उन घायल पुष्पों को पीसती हुई चली जाती है। लेकिन आप अपने पुष्पों को सम्भाल लेने की विजय में फूले हुए हैं। इसलिए आपकी मनोवृत्ति और माली की मनोवृत्ति में अन्तर है। यदि माली ने उन्हें क्रय किया है तो मूल्य के रूप में वह अपनी हानि से दुखी होता है और यदि उसने पुष्पों को स्वयं पैदा किया है, तो इस मूल्य की बात पीछे पड़ जाती है। पुष्प के बीज से लेकर पौदे और उसके समस्त विकास-क्रम तथा कली के खिलने तक की उसकी सारी अनुभूति रह जाती है। यहाँ हम देखते हैं कि आपको अपने हाथ के फूल प्रिय हैं और माली को अपनी डलियों के। और सुन्दर, सुन्दर तो आपको डलिया के फूल भी लग रहे हैं। तभी आप उनमें से अधिकाश को समेटते जा रहे हैं। किन्तु इस सौन्दर्य-बोध का क्या मूल्य है, जिस पर प्रेम नहीं है। इस प्रकार या हमारा सौन्दर्य-

बोध क्या वास्तविक सौन्दर्य बोध है ? वस्तुत. ऐसा सौन्दर्य बोध सुन्दरता की विडम्बना मात्र है। क्योकि व्यक्ति का प्रेम इस सौन्दर्य को निगल जाता है। बालिका की ग्रदक को बनाये रखने के लिए हम इस सौन्दर्य को मिट्टी म मिला देते है। सौन्दर्य बोध का यह स्तर बहुत ही निम्न तथा भ्रामक है। इसम वास्तविक सौन्दर्य बोध नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य बोध प्रेम को प्रगाढ बनाता है। सौन्दर्य का स्वरूप ही 'प्रेम' है।

एक बात और है, शिल्पी के द्वारा निर्मित गुलाब के फूल और माली द्वारा प्रकृति की सेवा करके पैदा किये हुये गुलाब के फूल मे क्या अन्तर है ? मैं समझता हूँ, शिल्पी अपने पाषाण के फूल को असली गुलाब के फूल से अधिक सुन्दर मानता है। उसे वह पाषाणी पुष्प बहुत प्रिय है। क्योंकि उसकी अनुभूति और कल्पना ने उसका निर्माण किया है। यद्यपि माली भी गुलाब के फूल में अपने श्रम और अपनी आशा का मूर्त रूप देखता है। किन्तु शिल्पी तो उसकी पखुड़ियों तक का निर्माता है। पाषाण मे गुलाब का फूल खिलाने का सारा श्रेय शिल्पी को है। प्रकृति ने माली की साधना से प्रसन्न होकर उसे गुलाब का फूल उपहार में दिया है। किन्तु शिल्पी तो अपनी साधना को स्वय गुलाब के फूल में परिवर्तित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य और प्रियता का आधार अपनी स्थिति से सम्बन्ध रखता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आखें जिस रेखा को सौन्दर्य मानती हैं, वह सौन्दर्य क्षणिक और अस्थाई है। वह सौन्दर्य का स्थूल आभास मात्र है। यदि रेखाओं की तह में हमारे भावों की पहुंच नहीं होती,तो सौन्दर्य-बोध हमे नहीं होता। रेखाओं का सौन्दर्य निरपेक्ष सौन्दर्य नहीं है। वह रेखाओं मे सन्निहित भावों की अपेक्षा रखता है। इन भावों के कारण ही जहाँ कुछ रेखा विन्यास हमे सुन्दर लगते हैं, वहाँ वही रेखा विन्यास आपको असुन्दर लग सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आखों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य का आश्रय मूलत. सौन्दर्य का आश्रय नहीं है। चित्रकार

अपने चित्र की रेखाओं में जिन भावों की प्रतिष्ठा करता है, वे भाव ही चित्र के सौन्दर्य के आधार हैं। रेखाएँ तो उन भावों को बाँध रखने का प्रयत्नमात्र करती हैं। इसलिये रेखागत सौन्दर्य वास्तविक है, ऐसा मान लेना या समझना हमारा भ्रम है।

सौन्दर्य की उपयोगिता का हमें ज्ञान नहीं है। हम सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं, किन्तु सुख और आनन्द की उपयोगिता का ज्ञान हमें नहीं है। हम समस्त सृष्टि म सत्यपदार्थ का अन्वेषण करते हैं, किन्तु हमें सत्य की उपयोगिता का ज्ञान नहीं है। इस रहस्य पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है। इससे सौन्दर्य के मूल्य पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। साहित्य 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुन्दरम्', की प्रतिष्ठा का समर्थक है, किन्तु वह हमें यह नहीं बताता कि इन सबकी उपयोगिता हमारे लिए क्या है। अध्यात्मवाद आनन्द और मोक्ष की व्याख्या तो करता है। किन्तु वह यह समझाने का प्रयत्न नहीं करता कि इन सबका हमारे लिये क्या उपयोग है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह सब अपना उपयोगिता स्वयं है। मोक्ष का उपयोग स्वयं मोक्ष है। यह साधन नहीं साध्य है। और आनन्द का उपयोग स्वयं आनन्द है और इसी प्रकार सौन्दर्य की उपयोगिता स्वयं सौन्दर्य में है। यह दार्शनिक और चमत्कारिक उत्तर हमारी जिज्ञासा को शांत नहीं करता। बल्कि इससे तो हमारी जिज्ञासा और बढ़ जाती है। कला, कला के लिये है, सौन्दर्य, सौन्दर्य के लिये तो है, किन्तु हमारे लिये क्या है? हमारे लिए उसकी क्या उपयोगिता है! क्योंकि जिससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं, जो हमारे किसी काम नहीं आ सकता, उसे समझने और प्राप्त करने का प्रयत्न हम क्यों करें? सौन्दर्य के सम्बन्ध में तो हमारा यह सन्देह और दृढ़ हो जाता है। मोक्ष तो हमारी कल्पना के बाहर की चीज है। सुख नाम की चीज हमारे अनुभव में आती है, किन्तु इसका उत्तर हमें नहीं मिलता कि क्या सुख के प्रति इतना खिंचाव है?। दुःख हमें प्रिय क्यों नहीं लगता? इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति तो हमें होती है, किन्तु हम

यह नहीं समझ पाते कि सौन्दर्य से हमें इतना प्रेम क्यों है ? जिस प्रकार हम सुख के पीछे दौड़ते हैं और इसकी खोज में अनन्त सुख, ब्रह्मानन्द की कल्पना तक कर डालते हैं। उसी प्रकार दुःख से प्रेम करके हम उसी ओर क्यों नहीं जाते। हमारी प्रवृत्ति यदि ऐसी हो जाय तो दुःख-पूर्ण यह संसार हमें अधिक प्रिय हो जाय। किन्तु सम्भवतः ऐसा नहीं है। फिर भी इस स्थिति के कारण पर विचार तो करना ही होगा।

ऊपर के विवेचन में हम देख चुके हैं कि हमारा सौन्दर्यबोध स्थायी नहीं होता। स्वार्थों के चक्कर में पड़कर या संसार के वातावरण से प्रताड़ित होकर हमारा सौन्दर्यबोध ढह जाता है। हम जिस चन्द्रमुख की अद्भुत छवि को निर्निमेष भाव से देखते रहने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं, कुछ क्षण पश्चात् वातावरण बदल जाने पर, भाव परिवर्तित हो जाने पर, वही चन्द्रमुख इतना हेय और घृणित प्रतीत होता है कि उसे आँखों के सामने से दूर कर देने में ही हम अपना कल्याण समझते हैं। कैकेयी का मुखमंडल, उसका सौन्दर्य दशरथ के समक्ष ऐसी ही दशा को प्राप्त हुआ है।

'जानसि मोर स्वभाव बरोरू, मन तव आनन चन्द चकोरू।

अब तोहिं नीक लाग करु सोई, लोचन ओट बैठु मुख गोई।'

यह सौन्दर्य-बोध कितना कच्चा है। इस पर आश्रित दशरथ का प्रेम कितना भ्रम था, यह उनकी मार्मिक व्यथा स्वयं प्रकट करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यबोध की हमारी स्थिति क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है। इससे ऐसा प्रकट होता है कि लोक में हमें इस प्रकार की जो सौन्दर्यानुभूति होती है, उसका आधार सच्चा नहीं है। वह वस्तुतः सौन्दर्य नहीं है। तो सौन्दर्य क्या है ? कहा है ? इत्यादि शंकाएं उठ खड़ी होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन में जो आशंकाएं उठायी गयी हैं, उनका समाधान हमें तब प्राप्त हो सकता है, जब हम सौन्दर्य के स्वरूप को हृदयं-

गम करें। सौन्दर्यबोध की स्थिति गूंगे का स्वाद है। ऐसी सौन्दर्यानुभूति सबके लिये सम्भव नहीं है। यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक में साधारणतया हम 'सुन्दरम्' के जिस दायरे में रहते हैं, वह कोई महत्व की चीज नहीं है। जैसे दया, क्षमा, घृणा, क्रोध, आदि भाव हमारे अन्दर वर्तमान हैं, जैसे सुख और दुःख में हम घूमते रहते हैं। उसी प्रकार सौन्दर्य बोध एक भव है। किसी विशेष रेखा विन्यास के साथ हमारे कुछ सुखदायीय भाव जब जुड़ जाते हैं तो हम सौन्दर्यबोध की स्थिति में पहुँच जाते हैं। यहाँ भी सौन्दर्य की सृष्टि हमारे भाव ही करते हैं। उनके हटने पर या विपरीतभावों के आ जाने पर हमारा सौन्दर्य बोध नष्ट हो जाता है। किसी देश विशेष की संस्कृति में सौन्दर्य का मापदंड दूसरा होता है और किसी में दूसरा। इसका कारण यह है कि वहां के समष्टिगत भाव दूसरे देश के भाव से अलग हैं। सौन्दर्य के मापदंड के द्वारा हम उस संस्कृति के भावों को परख सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि फूल, शिल्पकला तथा बालिका और नारी का जो सौन्दर्य हम अपनी ओर आकर्षित करता है, वह वास्तविक सौन्दर्य नहीं है। किन्तु सौन्दर्यबोध की स्थिति में भेद नहीं है। समस्त विश्व के मानव को अथवा उन समस्त प्राणियों को, जिन्हें सौन्दर्यानुभूति हो सकती है, एक समान ही स्थिति का बोध होता है। अनुभूति के क्षेत्र में सौन्दर्य की सत्ता अखंड और अविच्छेद्य है। वास्तविक सौन्दर्यबोध आत्मा का धर्म है और यह उपर्युक्त सौन्दर्यबोध हमारे मन की कल्पना है। हमारी आत्मा का सौन्दर्यबोध जब मन के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है, तो मन की और चीजें भी उसके साथ मिल जाती हैं। यही नहीं, मन द्वारा कल्पित पदार्थ के विभिन्न धर्म भी इस सौन्दर्य में मिल जाते हैं। क्योंकि आत्मा का आरोप मन पर और मन का आरोप पदार्थ पर होने से सौन्दर्य बोध उत्पन्न होता है। इसलिये इस सौन्दर्य बोध म पदार्थ और मन दोनों के गुण मिल जाते हैं। पदार्थ अस्थायी और परिवर्तनशील है। यह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। इसलिये उसमें

आरोपित सौन्दर्य भी क्षणिक और रूप-रंग बदलने वाला है। मन के साथ उसकी अनेक भावनाएं, स्वार्थ तथा उसका अपना संसार है। इसलिये लौकिक सौन्दर्य न केवल अनित्य और परिवर्तनशील ही है, अपितु विषैला और भ्रान्तिपूर्ण भी है।

कहने का तात्पर्य यह कि लौकिक सुन्दर और असुन्दर की दृष्टि सौन्दर्य के मूल स्वरूप को नहीं देख सकती। क्योंकि यह दृष्टि असत्य है। असत्य से सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य 'सत्यम्' 'शिवम्' के साथ रहने वाला नित्य, सत्य और आनन्दस्वरूप है। वस्तुतः 'सत्यम्' 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। यह तीनों एक ही तत्त्व के तीन पहलू हैं। 'सुन्दरम्' सत्य भी है और शिव भी। लोक में प्राप्त होने वाला सौन्दर्यबोध न तो सत्य ही है और न शिव ही। लोक का सौन्दर्य-बोध एक दृष्टिकोण है। वह स्वयं कोई तत्त्व नहीं है। हमारा दृष्टिकोण इस सौन्दर्य-बोध का कारण होता है। इसलिये दृष्टिकोण के समस्त धर्म इस सौन्दर्यबोध में भी हैं। अतः इस 'दृष्टिकोण' पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

लोक के प्रति हमारा दृष्टिकोण दो भागों में विभाजित है। कुछ को हम अपना विरोधी मानते हैं और कुछ को अपना हितैषी। आत्मा की छाया मन में दो रूपों से प्रतिभासित होती है। मन इस संसार को दो रूपों में देखता है। प्रिय और अप्रिय। सौन्दर्य बोध की स्थिति प्रिय पक्ष में है। इसीलिये सौन्दर्य प्रिय होता है। अप्रिय में सौन्दर्य की स्थिति नहीं होती। सौन्दर्य अपना विरोधी नहीं, हितैषी है, क्योंकि विरोधी में सौन्दर्य हो ही नहीं सकता। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह दोनों ही पक्ष मूलतः एक हैं। उसके जितने अंश से हमारी आत्मा का सम्बन्ध समीप का रहता है, उतना हमें सुखकर और जितना अंश हमारी आत्मा से तिरोहित, दूर रहता है, उतना हमें दुःखकर प्रतीत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उस तत्त्व के समीप पहुँचने की स्थिति सुख है और उससे दूर रहने की स्थिति दुख है। ऊपर हमने एक प्रश्न किया

या कि सुख हमें प्रिय क्यों है, दुख क्यों नहीं प्रिय है? यहां इस प्रश्न का रूप बदल जाएगा। अब प्रश्न यह होगा कि वह कौन सा तत्त्व है, जिसके समीप हम जाने की इच्छा करते हैं और क्यों जाने की इच्छा करते हैं? उससे हमारा क्या संबंध है?

बात यह है कि जिस तत्त्व के समीप पहुँच कर हमारी आत्मा को सुख का बोध होता है। अर्थात् सौन्दर्यानुभूति के क्षण हमारी आत्मा की स्थिति हमारी आत्मा का ही स्वरूप है, उसकी अपनी ही स्थिति है। स्वरूपज्ञान ही सबसे बड़ा सुख है। स्वरूप में ही वास्तविक सौन्दर्यानुभूति सम्भव है। स्वरूपज्ञान की हानि ही दुख है। स्वरूप ज्ञान यथार्थ और सत्य है। इसी प्रकार स्वरूप की हानि असत्य और अज्ञान है। जिसकी कोई सत्ता नहीं, उसके प्रति हमारी आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। ऐसा सम्बन्ध वन्ध्या पुत्र की तरह अलीक है। इसलिए यह प्रश्न कि 'हम सुख क्यों चाहते हैं, दुख क्यों नहीं चाहते।' बन ही नहीं सकता। जो है उसी का चाहना यथार्थ है। जो है ही नहीं, उसके सम्बन्ध में चाहने न चाहने का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारी आत्मा सत्य है, इसलिये उसे सत्य से प्रेम है। हमारी आत्मा शिव है इसलिये शिव से उसे प्रेम है, हमारी आत्मा सुन्दर है, इसलिये सौन्दर्य से उसे प्रेम है। कहने का तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य, आनन्द और सत्य सम्बन्धी हमारा प्रेम अपने स्वरूप के प्रति ही है। यह आत्मतत्त्व से व्यतिरिक्त कोई अलग तत्त्व नहीं है। यहाँ इस बात पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा कि सौन्दर्य का अस्तित्व बाहर है या भीतर। इसका ठीक उत्तर यही है कि वह न तो बाहर है, न भीतर ही। आत्मा जहाँ है, वहीं सौन्दर्य है। मैं समझता हूँ, आत्मा के लिये बाहर भीतर का बन्धन नहीं होना चाहिये। वह सर्वत्र है। बाहर भी है और भीतर भी। यही नहीं, बाहर-भीतर के अलावा जो स्थान बचता है, वहाँ भी वह है। इस प्रकार सौन्दर्य की स्थिति सर्वत्र है। किन्तु वह हम सबको दिखलाई नहीं देता। जैसे काव्य की रसानुभूति सब को समान रूप से

सम्भव नहीं है। जिसकी आत्मा जितनी विकसित होती है, तदनुकूल ही वह रसानुभूति कर पाता है। उसी प्रकार जिसकी आत्मा जितनी विकसित है, तदनुकूल ही वह सौन्दर्यानुभूति कर पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य का आधार हमारा आत्मतत्त्व ही है। एक ही तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है, बाहर भी, भीतर भी। जिस अंश में हमारी आत्मा बाह्यस्थित आत्मा से संसर्ग स्थापित करती है, उस अंश में हम एक अलौकिक भाव का आस्वादन करते हैं। साहित्य, संगीत और कला के माध्यम से हम अपनी आत्मा का विकास करते हैं और यह विकसित आत्मा जब अपने संकुचित दायरे का परित्याग करके विराट का संस्पर्श करती है तो हम सौन्दर्य की स्थिति में पहुँचते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहित्य, संगीत और कला के माध्यम से हमें जो सौन्दर्य-बोध होता है, वह अपूर्ण है। यही नहीं, इन सबके सौन्दर्यबोध परस्पर भिन्न होते हैं। लोक में हम प्रज्ञा के द्वारा विज्ञान के रूप में इस 'सत्य' का अन्वेषण करते हैं, धर्माचरण तथा कर्तव्य के द्वारा शिव की साधना करते हैं और प्रेम के द्वारा सौन्दर्यबोध का अनुभव करते हैं। इस प्रकार ये तीनों साधन एक ही तत्त्व के विविध पहलुओं में से केवल एक को ग्रहण करते हैं। इसलिए इनके द्वारा प्राप्त साध्य अपूर्ण होता है। साहित्य, संगीत और कला 'समष्टि' (सत्यम्, शिवम्, तथा सुन्दरम्) को लक्ष्य बनाता है। किन्तु कला में सौन्दर्य तथा संगीत में शिव तत्त्व, अधिक स्पष्ट रहता है। अर्थात् इनमें क्रमशः सत्य और शिव तथा सौन्दर्य और सत्य की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप से होती है। साहित्य में सत्य और शिव समान रूप से व्यक्त होते हैं। सौन्दर्य का पहलू इन दोनों की अपेक्षा कुछ हलका होता है। यह विभाजन मैंने सामान्य दृष्टि से किया है। इस विभाजन का अपवाद मिल सकता है। वस्तुतः कवि जिस सत्य का उद्घाटन करता है उसमें शिवत्व और सौन्दर्यतत्त्व तो वर्तमान रहता ही है। सत्य का ज्ञान और उसके शिव पहलू की

अनुभूति काव्य की रसानुभूति है। यदि अनुभवकर्ता की आत्मा विकसित है तो उसे सौन्दर्यानुभूति भी होती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि रसानुभूति से सौन्दर्यानुभूति अधिक सूक्ष्म है। इसमें अधिक ग्राहिकाशक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

किन्तु इन स्वरूप अभिव्यक्तियों के माध्यम से हम 'सत्ता' का यत्किंचित् स्वरूप ही हृदयंगम कर पाते हैं। इन सबके माध्यम से जो सौन्दर्यानुभूति होती है, वह भी वास्तविक नहीं होती। क्योंकि इनमें भी हमारा सौन्दर्यबोध मन, बुद्धि और हृदय पर आधारित होने के कारण विकृत हो जाता है। मन, हृदय आदि के गुण इसमें मिल जाते हैं। यही कारण है कि इन सब की सौन्दर्यानुभूति भी अनित्य, अस्थायी और एकांगी होती है। सामान्यतः प्रकृति में हम जिस सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, वह भी इसी कोटि का है। वास्तविक सौन्दर्यानुभूति की स्थिति में इन सबका पलड़ा हलका पड़ जाता है। जो व्यक्ति ऊषा की लालिमा और निर्भर के कलकल नाद में ही सौन्दर्य की अनुभूति करता है, अर्द्ध-रात्रि की नीरवता और श्मशान के भ्रमाच्छादित आकाश में जिसे सौन्दर्य नहीं दिखलायी देता, वह वास्तविक सौन्दर्यबोध की स्थिति में नहीं होता है। वास्तविक सौन्दर्यबोध की स्थिति में द्वैत की हानि हो जाती है। यदि बोध की स्थिति में सौन्दर्याश्रय और द्रष्टा में भेद का बोध भी बना रहता है, तो समझना चाहिये कि सौन्दर्य का वास्तविक बोध नहीं हो रहा है। जब आत्मा सौन्दर्याश्रय में अपने को खो देती है तो सौन्दर्य-बोध की पराकाष्ठा हो जाती है। इस प्रकार की साधना निरंतर बढ़ते, रहने पर जब सौन्दर्यबोध की स्थिति निरन्तर बनी रहती है, तो आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। वैसी स्थिति में सौन्दर्यानुभूति का रूप वैसा नहीं रहता, जैसा लोक में हमें होता है। किसी चिरपरिचित से बहुत दिनों बाद एकाएक मिल जाने पर हमें प्रारम्भ में असीम आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु जब हम उसके साथ घुलमिल कर पुराने पड़ जाते हैं तो पूर्व अनुभव की स्थिति जाती रहती है और हमारी स्थिति

सामान्य हो जाती है। स्वरूप-प्राप्ति का स्वरूप भी ऐसा ही होता है। जब तक हमें स्वरूप की केवल झलक मिलती है, तब तक हम कभी, सुख, कभी आनन्द कभी उत्कण्ठा और कभी आश्चर्य आदि विविध भावों से पूरित होकर मग्न हो जाया करते हैं। किन्तु जब स्वरूप की प्राप्ति निश्चयेन हो जाती है तो यह सब नहीं होता। इसीलिए अनेक चिन्तकों ने स्वरूपज्ञान को आनन्द से भी परे बताया है।

वास्तविक सौन्दर्यबोध की भी यही स्थिति है। लौकिक या काव्यादि के माध्यम से होने वाले सौन्दर्य-बोध में हमें जो आह्लाद का अनुभव होता है, उसका अस्तित्व हमारे अन्दर वर्तमान द्वैतभावना को सूचित करता है। कल्पित और भ्रामक 'असुन्दर' का संस्कार मन में पड़ा रहता है। इसके समीप जब सत्य का पहलू सौन्दर्य के रूप में उपस्थित हो जाता है, तो दोनों के तुलनात्मक बोध के रूप में ही हमें सौन्दर्य-बोध होता है। जैसे धूप का अस्तित्व छायाजनित सुख के तथा श्रम का अस्तित्व विश्रामजनित सुख के बोध का कारण होता है। उसी प्रकार असुन्दर तथा दुःख आदि भावों का अस्तित्व ही सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। जब हम इस ज्ञान को मूलतः प्राप्त कर लेते हैं कि सौन्दर्य ही सत्य है, आनन्द ही सत्य है तो हमारा पूर्वबोध नष्ट हो जाता है। हम समरस स्थिति में पहुंच जाते हैं। यह स्थिति अनिर्वचनीय है, यह हमारा सत्यदर्शन है। इसीलिए ऐसे तत्त्वदर्शी को वसन्त और पतझड़, ऊषा और अर्द्ध निशा तथा फूल और शूल समान प्रतीत होते हैं। वह सर्वत्र सौन्दर्य देखता है। असुन्दर असत्य है, यह केवल कल्पना मात्र है। अतएव तत्त्वदर्शी की दृष्टि में सौन्दर्य के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व ही नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सौन्दर्य की चरम स्थिति ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप होता है, इसलिए सौन्दर्य के स्रष्टा कविगण प्रकाशरूप में ही सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि लोक में प्रकाशवान पदार्थ में ही

कविगण सौन्दर्य मानते हैं। कोई कवि कहाँ सौन्दर्यानुभूति करता है, यह उसकी एतद् सम्बन्धी ग्राहकता शक्ति पर निर्भर है, किन्तु जहाँ उसे सौन्दर्य की अनुभूति होगी, वहाँ वह प्रकाशपुंज का अवलोकन करता है। क्योंकि सौन्दर्य प्रकाशस्वरूप होता है। इस सम्बन्ध में एक कवि का उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। भगवान श्री कृष्ण वन से गाएँ चराकर वापस आ रहे हैं, 'गोधूलि' के मध्य उनका रूप किस प्रकार शोभित हो रहा है, इसका चित्रण करते हुए 'हरिऔध' लिखते हैं :—

> ककुभ शोभित गोरज बीच से
> निकलते व्रजवल्लभ यों लसे,
> कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
> विलसता नभ में नलिनीश है।
>
> —प्रिय प्रवास

इस चित्रण में कवि ने सावले कृष्ण के सौन्दर्य को प्रकाशस्वरूप बताया है। दामिनी का सौन्दर्य भी देखें। यद्यपि दामिनी तो स्वयं प्रकाश-रूप होती है, तथापि कवि उसके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उस प्रकाश को और भी प्रकाशित कर देता है।

> नवप्रभा परमोज्ज्वल लोक सी
> गतिमती कुटिला फणिनी समा,
> दमकती दुरती घन अंक में
> विपुल केलि कला खनि दामिनी।
>
> —प्रिय प्रवास

दोनों ही चित्रों में आप देखेंगे कि अन्धकार और प्रकाश साथ-साथ है। कवि अन्धकार के साहचर्य से ही प्रकाश के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। साहित्य का सौन्दर्य-वर्णन इस द्वैतभाव पर ही प्रतिष्ठित है। किन्तु इसमें द्वैतभाव समष्टि-रूप से वर्तमान रहता है। भावनाओं का शुद्ध रूप साहित्य में गृहीत होता है। द्वैतभाव पर आधारित सौन्दर्य-बोध का विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं।

सौन्दर्य की चरम परिणिति के सम्बन्ध में थोड़ा और स्पष्टीकरण करके अब मैं इस प्रकरण को समाप्त करता हूं। सत्य और आनन्द की साधना का अवसान या सिद्धि जिस रूप में होती है, सौन्दर्य–साधना की भी वही परिणिति है। इन साधन पथों के पथिक विभिन्न मार्गों पर चलते हुए एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं। लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर सबकी स्थिति समान हो जाती है। हाँ, एक बात यह अवश्य होती है कि साधन पथ के स्वरूप का प्रभाव इन सबकी स्थिति को एक होते हुए भी विविध रूपों में व्यक्त करता है। सौन्दर्य का साधक सौन्दर्यमय हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि एक ही तत्त्व की छाया, लोक-भावना तथा वस्तुतत्त्व में पड़ती है। लोक में उसके विविध रूप हो जाते हैं। 'एकोऽहम्बहुस्याम्' का सत्य संकल्प मुख्य सत्ता को अनेक रूपों में विभक्त कर देता है। जिस प्रकार नन्हा सा बीज, जड़, तना, डाल, पत्ती, फूल तथा फल आदि रूपों में व्यक्त होकर स्थूलता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक ही तत्त्व जड़, चेतन, भाव, कुभाव, सुख, दुख आदि रूपों में व्यक्त है। इस तत्त्व को हम सत्य, शिव और सुन्दर के वर्गीकरण में बाँध कर प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि यह उसके मूलरूप हैं।

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

—'पन्त'

———

हमारी चिन्तना-शक्ति

विचार क्षेत्र में "चिन्तना" शब्द बहुत ही प्रिय है। किन्तु इसका स्वरूपानुसन्धान बहुत ही गहन है। 'चिन्ता' सर्पिणी तो सभी को खाती है। किन्तु चिन्तना की भगीरथी का अवगाहन विरले ही करते हैं। चिन्ता और चिन्तना में आकाश पाताल का अन्तर होते हुए भी दोनों एक ही शक्ति की करामात है। जब हमारी यह शक्ति विषयों की ओर अग्रसर होती है तो चिन्ता सर्पिणी का हार हमारे गले में पड़ता है। और वही शक्ति जब अपने स्वरूप की ओर बढ़ती है, तो चिन्तना की सुखद छाया हमें मिलती है। विषयों का चिन्तन, चिन्ता के रूप में स्पष्ट होता है और स्वरूप का चिन्तन आनन्द के रूप में प्रकट होता है। विषयाभिमुखी चिन्तन बहुर्मुखी होता है और स्वरूपाभिमुखी चिन्तन अन्तर्मुखी। इस प्रकार हमारी चिन्तना-शक्ति का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। अतः उसके स्वरूप को अच्छी तरह से समझने के लिए उसके क्षेत्र का वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि वह शक्ति अन्तः और बाह्य दोनों क्षेत्रों में दो रूप धारण करके प्रवेश करती है। यही नहीं, दोनों स्थलों पर उसके बलाबल में भी अन्तर हो जाता है। विषयाभिमुखी शक्ति अत्यन्त निर्बल तथा हीन होती है। और अन्तर्मुखी शक्ति अग्नि की शिखा की तरह देदीप्यमान और प्रचण्ड होती है। इसलिए शक्ति के इन दो भागों पर अलग-अलग विचार करना होगा।

'यह', 'मेरा', 'तेरा', 'पराया' इत्यादि शब्दों से हम जिस दुनियाँ को जानते हैं, वही बाह्य क्षेत्र है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिये इस प्रकार समझा जा सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान बाह्य-क्षेत्र का निर्माण करता है। हम साधारणतः दिन रात जिन विषयों पर सोचा करते हैं, वे हमारी इन्द्रियों द्वारा इकट्ठी की हुई सामग्री होती हैं।

हमारी वाह्यमुखी चिन्तना शक्ति इन्द्रियों की आँख से देखती है। 'चिन्तना' तो वह स्वयं करता है। किन्तु 'चिन्तन' की सामग्री तथा उसका ढंग वह इन्द्रियों से लेती है। वाह्य-क्षेत्र स्वयं चिन्तना-शक्ति का समझा बूझ क्षेत्र नहीं होता है। इन्द्रियाँ भी इस क्षेत्र के रहस्य को नहीं जानतीं। इसलिए वे स्वयं धोखा खाती रहती हैं और हमें भी धोखा देती रहती हैं। चिन्तना शक्ति हमारी चेतना (चैतन्य तत्त्व) का वह भाग है, जिसके द्वारा चेतना अपने अनुकूल तत्त्वों का चयन करती है। किन्तु 'मन' चिन्तना शक्ति को फसा कर अपना काम साधने लगता है और चैतन्य तत्त्व को यह समझा कर सन्तुष्ट किए रहता है कि हम तुम्हारे अनुकूल ही चल रहे हैं। जब हमारे सामने कोई विषय उपस्थित होता है तो हम उसकी रूपरेखा तथा उसके परिणाम आदि पर विचार करके यह निश्चय करते हैं कि यह हमारे किस काम का है। अथवा यह हमारे लिये उपयोगी है या अनुपयोगी। विषय का विश्लेषण तथा उसके साथ अपने सम्बन्ध का अन्वेषण, यह सब हमारी चिन्तना शक्ति करती है। अपनी इस क्रिया में वह अंशत स्वतन्त्र होती है। यहां इन्द्रियों की लगाम कुछ ढीली रहती है। उदाहरण के लिये हमारे सामने कोई सुन्दर वस्तु उपस्थित है, आँखें उसके रूप पर मुग्ध हो जाती हैं। और मन ललचा उठता है। किन्तु हमारी चिन्तना शक्ति अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देती है। मन और इन्द्रियों के घेरे से बाहर होकर वह उस सौन्दर्य की उपयोगिता तथा हमारे उसके सम्बन्ध, व्यवहार आदि की खोज करने लगती है। यदि वह वस्तु पराए की है तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे लिए इसका उपयोग केवल दर्शनमात्र है। इसी प्रकार जिह्वा, त्वक् आदि इन्द्रियों द्वारा उपस्थित सामग्री के सम्बन्ध में भी यही होता है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस चिन्तना शक्ति के रहते हुये भी हम कभी कभी गलत कदम क्यों उठा देते हैं। इसका उत्तर समझने के लिये हमें वाह्य-क्षेत्र की विशेषता और उसमें फँसी

हुई चिन्तना-शक्ति की विवशता पर ध्यान देना होगा। बाह्य-क्षेत्र, जिसे दर्शन की भाषा में 'इदम्' कहा जाता है, हमारे मन का क्षेत्र है। अपने क्षेत्र में दुर्बल भी बली हो जाता है और पराए के क्षेत्र में जाकर बलिष्ठ भी निर्बल हो जाता है। हमारी चिन्तना शक्ति मन के क्षेत्र में पहुँच कर उसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाती। इसलिये मन दबाव डाल कर उससे अपने अनुकूल निर्णय करवाता है। और यदि चिन्तना-शक्ति ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो वह उसकी उपेक्षा करके उसमें प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार हार पर हार खाकर चिन्तना-शक्ति कुंठित हो जाती है। अतएव उसका कार्य एकमात्र मन के लिये विषयों को ढूढना और उनका चिन्तन करना हो जाता है। एक बार ऐसा हो जाने पर हमारी चिन्तना शक्ति की काया पलट जाती है। और जान बूझकर वह वही निर्णय देती है, जो मन के अनुकूल पडता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस स्थिति में पहुच कर भी उसमें पर्याप्त स्वातन्त्र्य वर्तमान रहता है। इसी स्वातन्त्र्य का फल है कि वह कुछ गर्हित कार्यों को छिप कर करने की राय देती है। क्योंकि यह जानती है कि यह काम उचित नहीं है। युग ने जिसे नैतिक मन कहा है, वह हमारी चिन्तना शक्ति का ही एक काम है। मन वास्तव में केवल चेतना मात्र रखता है। इसलिये जिसे अवचेतन मन कहा जाता है। वह इस प्रकार के विवेक से शून्य होता है। इस स्थिति म पडी हुई चिन्तना शक्ति की दशा ठीक उस न्यायाधीश की तरह होती है जो अपने कर्तव्य से च्युत होकर किसी परीक्ष को कानून के दड से बचने के लिए स्वय उपाय बताता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मन की एक शक्ति चिन्तना भी है। किन्तु यह बिल्कुल भ्रान्त धारणा है। चिन्तना शक्ति मन की परिभाषा से बिलकुल पृथक् सत्ता रखती है। चूंकि इसका सारा कार्य कलाप मन के क्षेत्र में होता है। तथा मन सदा इसके पीछे डण्डा लेकर खड़ा रहता है। इसलिए हमें ऐसा लगता है कि मन का ही एक भाग

यह शक्ति भी है । चिन्तना-शक्ति मन का कोई भाग नहीं है। हाँ, वह मन के भाग की तरह हो जाती है। चिन्तना-शक्ति का काम है सत् और असत् की परख करना। किन्तु जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो चुका है, वह मन के पंजे में पड़ कर अपनी इस क्रिया से अंशतः विरत हो जाती है। एक बात और है, इसके बिना मन बिलकुल पंगु हो जाता है। फ्रायड जिसे अचेतन मन कहता है, वह चिन्तना से रहित मन है। इसमें चेतना तो रहती है,किन्तु चिन्तना-शक्ति नहीं होती। चिन्तना के अभाव में मन की सारी सामग्री कल्पना, स्मृति प्रत्यय आदि ज्यों की त्यों पड़ी रहती है। इसलिये मन इसे (चिन्तना को) अपने काबू में रखना चाहता है। चिन्तना जब मन के काबू से निकल जाती है, तो मन निरुपाय होकर उसी के अधीन हो जाता है। फिर तो मन के राज्यकाल में जो तत्त्व प्रफुल्लित तथा विकसित थे, मुरझा जाते हैं। मन का डेरा-खेमा उखड़ जाता है और उसका छत्र-चंवर भी छिन जाता है। इसलिए उसके सहयोगी, पिट्ठू आदि भी रफूचक्कर हो जाते हैं। यहा यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मन के अधीन रहने वाली चिन्तना-शक्ति अपनी क्रिया से विरत तो हो ही जाती है, अपने स्वरूप को भी खो बैठती है। यह स्वरूप-च्युति ही उसे मन के घेरे में बन्द रखती है। बाह्यमुखी चिन्तन का स्वरूप उस किसान के सदृश हो जाता है। जिसने खेती करने का ढङ्ग सीखा क्या देखा भी नहीं है। जिस किसान को यह पता नहीं है कि धरती से अन्न कैसे पैदा किया जाता है, वह दूसरों की हरी-भरी फसलें देखकर मन ही मन कुढ़ा करता है और अपनी योग्यता को ओर न देखकर दूसरों के साथ द्वेष करना ही ठान लेता है। विषयाभिमुखी या बाह्यमुखी चिन्तना-शक्ति भी यही करती है। वह मन तथा उसकी अभिलाषाओं के रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं करती और न समझती ही है, उलटे उसे खुश रखने तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति में ही व्यस्त रहती है। इसलिये इस काय में वह सदा ही असफल होती रहती है।

वह जान बूझकर उन्हीं विषयों का चयन करती है, जिससे मन उद्दीप्त होता है। ज्यों ज्यों मन विषयों का भोग करता है। त्यों-त्यों वह बलिष्ठ होता जाता है। और उसकी इच्छायें आकाश पर चढ़ती जाती हैं। मन की इस इच्छा पूर्ति में व्यस्त हमारी चिन्तना शक्ति 'चिन्ता' के रूप में हमारे गले पड़ जाती है। यह उसके स्वरूप की हानि है।

अपने वास्तविक स्वरूप और क्रिया दोनों से च्युत होकर वह एक नए स्वरूप और नई क्रिया को अपनाती है। बाह्यक्षेत्र में प्रवेश पाने के लिये यह परिवर्तन आवश्यक है। किसी दूसरे देश में रहने के लिये वहां की नागरिकता और सामयिक कानूनों का पालन आवश्यक होता है। चिन्तना शक्ति के वास्तविक स्वरूप के ऊपर मन अपने स्वरूप की छाप लगा देता है और काम करने के लिए वह इन्द्रियों की कमेटी बैठा देता है। इस कमेटी का अध्यक्ष मन होता है। इस प्रकार इन्द्रियों के बीच में बैठकर मन के निर्देश पर यह छद्मवेषी चिन्तना शक्ति जो काम करती है, उसे हम सब दिन-रात देखते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के तीन भागों की कल्पना की है। फ्रायड के अनुसार वह अवचेतन, अर्धचेतन और चेतन के नाम से कहा जाता है। कुछ हेर-फेर के साथ युंग इन्हें ही 'इदम्' 'नैतिक मन' और 'अहं' की संज्ञा देते हैं। चिन्तना को और चेतना को मन का ही रूप मान लेने के कारण मनोविज्ञान को इस प्रकार मन के तीन भागों की या तीन मनों की कल्पना करनी पड़ी है। वस्तुतः चैतन्य-तत्त्व की सत्ता मन से सर्वथा पृथक् है। यह 'मन' की उत्पत्ति का कारण है। जिसे चेतन मन कहा जाता है, वह चिन्तना शक्ति के सहयोग से जागरूक मन का रूप है। चिन्तना शक्ति मन के साथ हमेशा नहीं रहती। इसमें स्वयं मन की इच्छा भी कारण हो सकती है। मन की इच्छा से तात्पर्य है मन का इन्द्रियों के वश में रहना। जिस इन्द्रिय के विषय की ओर मन अधिक झुकता है। चिन्तना-शक्ति उसी ओर विशेष सहयोग देती है। स्वयं चिन्तना की शक्ति पर भी यह निर्भर होता है कि वह किस हद तक मन

का साथ दे। जाग्रत अवस्था में हमारी चेतना सजग होती है। इसलिये वह मन के साथ एकाकार होकर चिन्तना-शक्ति को कार्य में लगाये रहती है। सुप्तावस्था में चेतना कहीं जाती तो नहीं, किन्तु जब वह सो जाती है तो चिन्तना शक्ति भी अलसित हो जाती है। अथवा सो जाती है। स्वप्नावस्था में मन सुप्त चिन्तना शक्ति के स्पर्शमात्र से घर घरौंदा बनाया करता है। इसलिये उसमें प्रौढ चिन्तना-शक्ति का हाथ नहीं होता। और इसीलिए स्वप्नावस्था की बातें जाग्रतावस्था की चिन्तना शक्ति के लिए कुतूहलवर्द्धक और कभी कभी काल्पनिक तथा खिलवाड़ जैसी लगती हैं। ऊट पटांग स्वप्नों का यही रहस्य है। स्वप्नों का विश्लेषण करने पर भले ही यह प्रमाणित हो जाए कि मन में छिपी हुई प्रवृत्तियां, अनुकृतियां और भाव इसमें सामने आते हैं। किन्तु मनोविज्ञान इस बात का कोई सन्तोषजनक और युक्तिसंगत उत्तर नहीं देता कि क्यों मन को यही चीजें जागने पर असम्भव लगती हैं। जो स्वप्नावस्था में सम्भव लग रही थीं। उदाहरण के लिये स्वप्न में हम उड़ते हैं, मरते हैं और आश्चर्य तो यह कि हम मर गए, इसकी जानकारी हमें रहती है। किन्तु यह सब उस समय असम्भव तो बिलकुल नहीं लगता। किन्तु जागने पर हम यह निश्चित करते हैं कि यह सब असम्भव है। 'इसका यह उत्तर कि स्वप्नावस्था की घटनाएं अवचेतन मन की लीला होती है और अवचेतन मन सम्भव असम्भव तथा उचित-अनुचित के बन्धन से सर्वथा मुक्त होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर स्पष्ट ही मन के दो पृथक्-पृथक् टुकड़े हो जाते हैं, जो अनुभव का विरोधी है और सम्भवतः स्वयं फ्रायड भी इसे नहीं मानते थे। स्वप्नावस्था में यदि मन का अवचेतन भाग ही कार्य करता है और चेतन मन का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो जागने पर स्वप्न की बातों का अनुभव चेतन मन को कैसे होता है। वस्तुतः मन के किसी भाग को चेतन और किसी को अवचेतन मानना 'चेतना-तत्त्व' की अनभिज्ञता प्रकट करता है। चेतन तत्त्व' आश्रय के

किसी देश विशेष मे नहीं रहता, अपितु सम्पूर्ण पदार्थ में समान रूप से चेतना वर्तमान रहती है। इसलिये मन मूलत चेतन है। किन्तु 'चेतन तत्त्व'का आरोप मात्र होने से ही उसमें चेतनता रहती है। मुख्य चैतन्य-तत्त्व मन से पृथक है। इसी प्रकार अर्धचेतन तथा नैतिक मन की कल्पना भी युक्ति सगत नहीं है। यदि मनोविज्ञान यह मान ले कि मन स्वय चेतनतत्त्व नहीं है, चेतन तत्त्व मन से पृथक् सर्वथा एक दूसरी ही सत्ता है। इस चेतन से ही मन म चेतना आती है, तो उसे मन के अनेक रूपों की कल्पना न करनी पडे। चेतन-तत्त्व की ही एक शक्ति चिन्तना-शक्ति है, जिसका प्रादुर्भाव और तिरोभाव चेतना के ऊपर निर्भर रहता है। इसी चिन्तना शक्ति का ही एक काम सद् असद् का निर्णय करना है, जिसे नैतिक मन का रूप दिया जाता है।

हमारी अन्य इन्द्रियों की तरह 'मन' भी एक इन्द्रिय विशेष है, जिसमें चेतना निवास करती है। यह इन्द्रिय अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न एव समर्थ होने के कारण शेष इन्द्रियों को वशीभूत करके उन पर शासन करती है। जैसा कि मैं ऊपर स्पष्ट कर चुका हूँ, मन इतना शक्तिशाली होता है कि वह चैतन्य तत्त्व की शक्ति चिन्तना शक्ति को भी अपने प जे मे जकड लेता है। चैतन्य का सहयोग मन को सदा मिलता रहता है। सुषुप्तिकाल में मन अन्तर्मुखी होकर चैतन्य म सुप्त हो जाता है। जाग्रत अवस्था म वह चेतना की चिन्तना शक्ति को लेकर खेल खेलता है और स्वप्नावस्था म इन्द्रियों में सुप्त चिन्तना की छाया मे अठखेलियाँ करता है। सीधे चैतन्य से मिलने वाली चिन्तना शक्ति स्वप्नावस्था म मन को नहीं मिलती। इस प्रकार जाग्रत, सुषुप्ति तथा स्वप्नावस्थाएँ और अह, इदम् तथा नैतिक मन की व्यवस्थाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मेरे विवेचन का विषय उस शक्ति से सम्बन्ध रखता है, जो मन की जाग्रतावस्था का कारण बनती है। चिन्तना शक्ति का सहयोग मिलने के कारण ही मन की जाग्रतावस्था इतनी व्यवस्थित और युक्ति-सगत प्रतीत होती है। विक्षिप्त व्यक्तियों में यह चिन्तना-

शक्ति सुप्त या लुप्त हो जाती है। इसलिए उसके मन का कार्य-कलाप अव्यवस्थित तथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् अब चिन्तना-शक्ति के कामों पर विचार करना सरल हो गया है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने में चिन्तना का हाथ तो होता ही है, इनसे परे भी वह सीधे मन द्वारा गृहीत ज्ञान को व्यवस्थित एवं परिमार्जित करती है। ज्ञानार्जन की दिशा में मन इसी का सम्बल लेकर आगे बढ़ता है। पशुत्व और मनुष्यत्व के भेद का एक कारण मानव मन का चिन्तना युक्त होना भी है। पशुओं में भी बुद्धि होती है। किन्तु चिन्तना-शक्ति का अभाव होने के कारण वह कुण्ठित रहती है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बुद्धि चिन्तना-शक्ति का वह कोष है, जिसके द्वारा वह हमारी अनुभूतियों में उतरती है। या कार्यरत होती है। बुद्धि के माध्यम से चिन्तना शक्ति चैतन्य-तत्त्व से सम्बन्ध भी स्थापित करती है। अप्रासंगिक होने के कारण बुद्धि और चिन्तना-शक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धि-तत्त्व और चिन्तना-शक्ति में बहुत कम अन्तर है। स्थूल दृष्टि से दोनों एक ही सत्ता प्रतीत होती हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः हमारी आत्मा, जिसका परिवर्तित रूप चेतना बनती है, दो तत्त्वों के मेल से मन को प्रकाशित करता है। ये दोनों तत्त्व हैं, बुद्धि और हृदय। बुद्धि के द्वारा आत्मा के ज्ञान रूप का आभास मन को मिलता है और हृदय के द्वारा आनन्द रूप का आभास। चिन्तना-शक्ति शान्त आत्मा में तरंग के समान है। हृदय में पहुँचकर वह तरंग अनुभूति का सृजन करती है। और बुद्धि में पहुँचकर विचार और ज्ञान का। चिन्तना शक्ति ज्ञान को आलोड़ित करती है। मन के साम्राज्य में चैतन्य का ज्ञानस्वरूप तिरोहित रहता है। चिन्तना-शक्ति का वास्तविक काम इस तिरोहित 'ज्ञान' को खोजना है। किन्तु बीच में मन ठग मिल जाता है और इससे दूसरा काम लेने लगता है। बुद्धि और चिन्तना-शक्ति का भेद इस बात से

भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तना शक्ति बुद्धि के कोष में पहुँच कर जितना काम करती है, उतना ही काम वह हृदय के कोष मे भी पहुँचकर करती है। बुद्धि को यह तर्क, विचार तथा गवेषणा आदि में सहायता देती है। और हृदय को तल्लीनता तथा अनुभूति की गहराई को मापन म मदद करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तना शक्ति मन, बुद्धि, हृदय आदि से पृथक एक ऐसी सत्ता है जिसका सीधा सम्बन्ध हमारी चेतना से है, अथवा आत्मा से है।

पशुओं में भी हृदय, बुद्धि और मन होता है। किन्तु चिन्तना शक्ति नहीं होती। कुछ लोग पशुओं म बुद्धि नहीं मानते, किन्तु यह मान्यता अप्रामाणिक है। रास्ते में पडी हुई खाई को कूद जाना, दीवार स बचना, आदि पशुओं के अनेक कार्य उनमें बुद्धि की सत्ता क सकेत करते हैं। हाँ, उनमे चिन्तना शक्ति नहीं होती। वे कुछ दूर की नहीं सोच पाते, अर्थात् किसी समस्या पर विचार नहीं कर पाते। इस विषय से सम्बन्धित एक उदाहरण पर दृष्टिपात कर लेने से विषय स्पष्ट हो जाएगा। कुछ गावों में जहाँ पशु अनियन्त्रित छोड़ दिये जाते हैं, खेतों के चारो तरफ ऊची मेड़ उठा दी जाती है। गर्मियों में ईख के खेत अस्थायी ऊची दीवाल से घिर जाते हैं। कुछ पशु जो यह समझते हैं कि इसे मैं कूद जाऊँगा, वे प्रयास भी करते हैं। अनेक ऐसे पशु दीवार का निरीक्षण कर ऐसा स्थान चुन लेते हैं, जहाँ दीवार कुछ नीची होती है या कूदने का स्थान कुछ ऊँचा होता है। उनका यह कार्य उनम वर्तमान बुद्धि सत्ता का द्योतक है, किन्तु वे अपने इस कार्य की वैधता, अवैधता अथवा इसके परिणाम आदि पर विचार नहीं कर पाते। सुझाई देना बुद्धि का काम है और सूझ की परीक्षा करना अथवा उस पर विचार करना चिन्तना शक्ति का काम है। पशु का मन बुद्धि की सूझको तुरन्त कार्यान्वित कर देने का आदेश सम्बन्धित इन्द्रिय को दे देता है। पशु ऊहापोह नहीं कर पाता, बन्दरों म तो बुद्धि तीव्र होने के कारण अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। किन्तु चिन्तन

का इनमें भी पूर्णत अभाव है। पशुओं मे चिन्तना शक्ति के अभाव का कारण उनकी आत्मा अथवा चेतना का अविकसित होना है। विकसित आत्मा ही चिन्तना शक्ति को जन्म दे सकती है। क्योंकि वह अपने स्वरूप, निज को जानना चाहती है। स्वरूप की ओर उन्मुख आत्मा, शान्त एव समरस रूप से चिन्तना की तरग को आविर्भूत करती है। यह तरग मन, बुद्धि, हृदय और समस्त इन्द्रियों म आवश्यकतानुसार फैल जाती है। मनुष्या मभी सब म समान रूप से चिन्तना शक्ति का बनावल नहीं होता। बुद्धि, मन, हृदय, और इन्द्रियों की समानता मनुष्या को एक जाति में समन्वित करती है और चिन्तना शक्ति की विभिन्नता प्रत्येक व्यक्तित्व का अगल अलग निमाण करती है। जिस व्यक्ति म चिन्तना शक्ति जितनी ही प्रबल होती है, उस व्यक्ति म मन हृदय, बुद्धि आदि के विकास की तीव्रता उतनी ही अधिक होता है। कुछ लोगों की यह धारणा, कि जो व्यक्ति भावुक है वह विचारशील कम होता है, बहुत ही भ्रान्त है। वस्तुत जो भावुक है, वह उतना ही विचारशील भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति जितना ही गम्भीर विचारक है, वह उतना ही अधिक भावुक भी है। क्योंकि भावुकता और विचारशीलता दोनों म गम्भीरता लाने का काम चिन्तना शक्ति ही करती है। यह बात दूसरी है कि अभ्यास एव साधना के बल पर कोई उस चिन्तना शक्ति को बुद्धि के माध्यम से ही अधिक प्रयोग में लाता है और कोई हृदय के माध्यम से। किसी युग विशेष का बुद्धिवादी होना यह बतलाता है कि इस युग मे मानव चिन्तना ने समष्टि रूप से बुद्धि के माध्यम मे अधिक कार्य किया है। इतिहास इसका कारण ढूँढता है। जिन दिनों तुलसी, सूर, मीरा जैसे भावुक भक्तों की वाणी भारत मे गूंज रही थी, उस समय भारत की चिन्तना शक्ति हृदय के माध्यम से अधिक काम कर रही था। इसका भी कारण ढूढना इतिहास का काम है। कहने का तात्पर्य यह कि चिन्तना एक ऐसी सत्ता है, जिस पर हमारे व्यक्तित्व का दृढ भवन खड़ा होता है।

चिन्तना एक शक्ति है। हृदय और बुद्धि इसका उपयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं। बुद्धि और हृदय मन के अधीन होने के कारण उसी से परिचालित होते हैं। फलत यदि मन कलुषित है, तो बुद्धि और हृदय भी कलुषित होगा। और यह कलुषित 'बुद्धि हृदय' चिन्तना शक्ति का दुरुपयोग करेगा। इसी प्रकार चिन्तना का विकास और पतन भी होता रहता है। बात यह है कि आत्मा जब तक मन के पंजे मे रहती है, अर्थात् जब तक उसे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मन से ही प्रभावित रहती है। इसलिए मन की स्थिति का प्रभाव उस पर पडा करता है। फलत चिन्तना शक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। विकसित आत्मा ही स्वस्थ चिन्तना को मन के साथ संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए मन का निरोध, आत्मा और मन की वह रस्साकशी है, जिसमें चिन्तना, 'शक्ति' का काम करती है। मानवीय आत्मा कुछ जीत की ओर उन्मुख रहती है किन्तु यदि इसी बीच साधना में विघ्न पडने से मन बली हो जाता है तो वह बाजी मार ले जाता है। इस प्रकार मानवीय आत्मा की हजारों वर्ष की साधना धूल मे मिल जाती है। मनुष्य जन्म की दुर्लभता का यही रहस्य है। मन और आत्मा की रस्साकशी पर तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। क्योंकि इसका स्पष्टीकरण हो जाने पर चिन्तना का असली स्वरूप सामने आ जाएगा। मन मूलत चैतन्य नहीं है, रस्से के माध्यम से चेतना का आभास मात्र मन तक पहुंचता है। जब 'मन' से रस्सा छूट जाता है तो मन चेतनाशून्य अतएव नष्ट हो जाता है। जब मन और आत्मा दोनों कुछ कुछ समान रूप से रस्से पर अधिकार जमाने की स्थिति में रहते हैं, तो चिन्तना नामक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सभी योनियों मे मन और आत्मा का संघर्ष चला करता है। किन्तु वहाँ मन काफी आगे बढा रहता है। अर्थात् रस्से के अधिकाश भाग पर मन का अधिकार होता है। वस्तुत यह मन की मूर्खता है। क्योंकि वह ज्यों-ज्यों रस्से पर अधिकार जमाता

है, त्यों-त्यों वह मूढ होता जाता है। विकास की दृष्टि से अर्थात मानवीय दृष्टि से अनेक जन्तुओं का कार्यकलाप मूढता ही तो प्रतीत होता है, किन्तु मानवीय मन से उनका मन इस अर्थ में शक्तिशाली होता है कि जन्तु के समस्त आभ्यन्तरिक दाँवों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वहाँ मन का निरोध सम्भव नहीं और न मन के निर्णय में दखल ही दिया जा सकता है। जन्तु पूर्णतः मन पर आधारित रहता है। अर्थात् उसकी आत्मा मन से पूर्णतः दबी रहती है। किन्तु विकास की दृष्टि से यह मन शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें चिन्तना का अभाव होता है। बात यह है कि शक्ति तो आत्मा से ही आती है। आत्मा के साथ रस्से का सम्बन्ध ज्यों ज्यों ढीला पड़ता जाता है। त्यों-त्यों वह न्यून शक्ति का ही संचरण कर पाता है। इसलिये पशुओं का मन, बुद्धि, हृदय सब कुछ मूढ़ होता है। मन सर्वथा उस रस्से को अपने काबू में नहीं कर सकता। क्योंकि वह आत्मा की ही शक्ति-विशेष है। पृथक् उसकी (रस्से की या चेतना की) सत्ता नहीं है। आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध ढीला पड़ सकता है। यह सम्बन्ध ही चेतना तत्त्व है। यह रस्सा चेतना है और जब इस रस्से पर मन और आत्मा का तनाव कुछ कुछ समान रूप से पड़ता है तो चिन्तना-शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यह आत्मा के जागरण की ऊषा वेला है। इस अँगड़ाई का सुपरिणाम यह होना चाहिये कि आत्मा कर्त्तव्य-पथ पर पूर्णतः सजग हो जाए। और रस्से को सँभाले। उसकी असावधानी का ही यह फल होता है कि रस्से में उत्पन्न इस चिन्तना-शक्ति का उपयोग मन करने लगता है। और आत्मा द्वारा उत्पन्न शक्ति से ही वह आत्मा को बन्धन मे डाल देता है। आत्मा से उत्पन्न सात्त्विकी एवं निर्मल चिन्तना-शक्ति को मन गन्दा कर देता है। फलतः चिन्ता मे डूब कर आत्मा निबल हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से चिन्तना के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। अब उस साधना पर भी

थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, जिसके सहारे आत्मा, शक्ति का प्रयोग करती है। अब तक जो कुछ विचार किया गया है, उसमें चिन्तना शक्ति के बाह्यमुखी रूप का अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। आत्मा का साधना के प्रसग मे जो विचार होगा। उसमे चिन्तना शक्ति के अन्तर्मुखी रूप का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

मनोवैज्ञानिकों ने मन के कार्यकलापों का अध्ययन करने के लिए 'निरीक्षण' को प्रमुख साधन माना है। सवेगों का अध्ययन करने मे इससे बहुत मदद मिलती है। निरीक्षण का यह व्यापार चिन्तना प्रधान होता है। दूसरों के सवेगों का थोड़ा बहुत अध्ययन हम शारीरिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से कर भी लेते हैं। किन्तु *निज के संवेगों का अध्ययन करना कठिन हो जाता है।* कठिनाई यह उपस्थित होती है कि जैसे ही हम उन पर विचार करने चलते हैं, वे रफूचक्कर हो जाते हैं। मनोविज्ञान ने इस घटना के रहस्य पर दूर तक विचार नहीं किया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि निज के सवेगों का अध्ययन ही अधिक तत्त्वमूलक होता है, किन्तु इस अध्ययन की उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने में वे विवश हैं। चिन्तना के अन्तर्मुखी स्वरूप पर दृष्टिपात करने से समस्या कुछ सुलझ जाती है। वस्तुत. सवेग की स्थिति में मन किसी आघात विशेष की प्रतिक्रिया के रूप में स्थित रहता है। इसलिये वह चिन्तना को भी उधर ही लगाए रहता है। स-गों में तीव्रता लाना चिन्तना का ही काम है। इधर निरीक्षण की ओर चिन्तना के मुड़ते ही तरग द्वारा फेंकी हुई जल राशि की तरह सवेग मन में ही लीन हो जाते हैं। प्रतिक्रिया के लिए तैयार मन अपने अस्त्र, चिन्तना को दूसरी ओर मुड़ता देखकर विचलित हो जाता है। और वह उन आघातों को भूल जाता है, जिनसे उसमें प्रतिक्रिया पैदा हुई थी। यह अन्तर्मुखी चिन्तना शक्ति है। सवेगों को तीव्र बनाने वाली बाह्यमुखी चिन्तना शक्ति को जब चेतना आत्मा की ओर मोड़ देती है तो मन छू छा हो जाता है। कुछ

योगियों ने उल्टी गंगा बहाने की बात कही है। चिन्तना का अन्तर्मुखी होना भी उसी प्रकार का है। अपने सवेगों, भावों और इच्छाओं के स्वरूप का चिन्तन करना इसका अन्तर्मुखी होना है। चिन्तना का यह प्रयास बुद्धिकोष के माध्यम से ही अधिक होता है। यहा यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैसे चिन्तना का विषय बनते ही सवेगों का रूप गायब हो जाता है, केवल उनकी छाया या आभास मात्र चिन्तन के लिये बच रहता है। उसी प्रकार भावों, इच्छाओं के सम्बन्ध में भी होता है। धीरे धीरे जब यह साधना आगे बढ़ जाती है, तब अपने निज के स्वरूप, (अह) चेतना का भी चिन्तन होता है। और वही दशा चेतना की भी होती है। हम जिसे चेतना माने बैठे हुए हैं वह गायब हो जाती है और इस प्रकार की आभ्यन्तरिक खोज हमारे शुद्ध आत्म-तत्त्व तक पहुँच जाती है। बुद्धिकोष को विवेक युक्त करके उसके माध्यम से स्वरूप का चिन्तन एक ऐसी साधना है, जिसमे चिन्तना शक्ति बुद्धि प्रधान होकर ज्ञान का साधन बनती है। इसी प्रकार हृदयकोष को भक्तिभाव से युक्त करके (हृदय में आत्मभाव की स्थापना करके) स्वरूप में स्थित हो जाने की साधना ऐसी साधना है, जिसमे चिन्तना शक्ति, भाव प्रधान होकर ब्रह्मानन्द का कारण बनती है।

यहा यह भी बता देना आवश्यक है कि जब तक व्यक्ति का शरीर सस्थान बना रहता है, तब तक आत्मा और मन में खींचा-तानी चला ही करती है। अन्तर्मुखी चिन्तना शक्ति का उपयोग करके आत्मा सदा मन को पीछे धकेले रहती है। शरीर सस्थान के विद्यमान रहते, मन का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं है। हाँ, निरन्तर मुँहकी खाते खाते वह अत्यन्त दुर्बल स्थिति में पहुँच जाता है। फलत: वह सरकस के फसाए गए दुर्बल शेर की तरह बिजली के हन्टर (चिन्तना-शक्ति) के इशारे पर चला करता है। किन्तु साधक को सर्वथा सावधान रहना पड़ता है। कितना भी निर्बल शेर क्यों न हो, बिजली का हटर उसकी आँखों के

सामने होना ही चाहिए।

अन्तर्मुखी चिन्तन की स्थिति बड़ी विलक्षण होती है। साधना बढ जाने पर उसमें सुख का विलक्षण उद्रेक होता है। बात यह है कि दुःख का एक मात्र कारण मन, उस स्थिति में चेतना शून्य सा रहता है। इन्द्रियाँ मन में प्रविष्ट हो जाती हैं और मन, हृदय और बुद्धि के समेत चेतना में लीन हो जाता है! चेतना आनन्द स्वरूप है और मन दुःख स्वरूप। विषयों के चिन्तन में चेतना मन के साथ रहती है। और स्व-रूप-चिन्तन में वह आत्मा में लीन रहती है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि साधनावस्था का वह सुख मोक्ष के सुख से सर्वथा पृथक् तो नहीं है। किन्तु सर्वथा वही भी नहीं है। बात यह है कि शरीर सस्थान की आत्मा, चिन्तना, मन तथा इन्द्रियों आदि से संयुक्त रहती है, मोक्षा-वस्था में इन सबका विनाश हो जाता है। जिसे हम चेतना कहते हैं, वह भी नहीं रहता। चिन्तना, मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ, यह सब भी नहीं रहतीं। आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा जब तक शरीर में रहता है, तब तक उसे ज्ञान रहता है कि 'मैं अमुक शरीर में स्थित हूँ' किन्तु मोक्षावस्था में उसके इस ज्ञान का स्वरूप यह हो जाता है कि 'मैं स्वयं अपने में स्थित हूँ' यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता ६, ५

साधना में श्रद्धा और विश्वास का योग

दुनियाँ में जो भी अच्छे काम हुए हैं, उनमें विधायकों की अतुलनीय शक्ति का जितना योग है, उससे कहीं अधिक योग कार्य और उसके साधन के प्रति उनकी श्रद्धा और अटूट विश्वास का है। जिसे हम निष्ठा कहते हैं, वह श्रद्धा और विश्वास का ही परिस्फुत, निष्पन्न रूप है। बिना निष्ठा के कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में सफल नहीं हो सकता। निष्ठा कार्य की दुःसाध्यता को नष्ट कर देती है। और यदि निष्ठा नहीं है, तो कितना भी सरल काम क्यों न हो, शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी उसे नहीं सम्पादित कर सकता। फल को निष्पन्न करने के लिए निष्ठा पुष्प के सदृश है। यह सम्भव हो सकता है कि कोई पुष्प किसी कारण से फल निकलने के पहले ही मुरझा जाय, किन्तु बिना पुष्प के फल की आशा दुराशामात्र है। निष्ठावान व्यक्ति में कार्य तथा उसके साधन के प्रति विश्वास और श्रद्धा की ऐसी अमोघ शक्ति होती है, जिससे वह साधन-पथ पर अग्रसर होने में एक प्रकार के आभ्यन्तरिक सुख का अनुभव करता है। यह सुख ही उसकी शक्ति को दिन प्रतिदिन दिव्य और नूतन बनाता रहता है। इसलिए साधनावस्था में अथवा कार्य सम्पादित हो जाने पर उसे श्रम नहीं आनन्द मिलता है। कर्म क्षेत्र में वही सफल सिद्ध हो सकता है, जो निष्ठावान है। निष्ठावान व्यक्ति कर्मठ होता है। कर्मठता तपस्या नहीं है। वह जीवन की ऐसी आनन्दमयी धारा है। जिसमें डूबे रहने में ही व्यक्ति को सुख, सन्तोष और शान्ति मिलता है। दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में यह तप अर्थात् कष्ट सहन करना लगता है, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। लोग कहते हैं कि अमुक काम उन्होंने कैसे कर लिया ? अथवा वह कैसे इतने गम्भीर, गुरुतर भार को वहन करते हैं। किन्तु लोग यह नहीं समझ पाते कि उसका सम्बल क्या है ? उसके अन्दर निहित

सूक्ष्मशक्ति को स्थूल आँखें नहीं देख पातीं। इसलिए सन्देह और आश्चर्य का होना स्वाभाविक है। वायुयान पर चढ़कर हम आकाश की सैर करते हैं। पनडुब्बी में बैठकर समुद्र के गर्भ में दौड़ते हैं। यह सब असम्भव कर्म हम साधन-सम्पन्नता के कारण ही सम्भव बना लेते हैं। ठीक इसी प्रकार असम्भव से असम्भव कार्य भी साधन-सम्पन्नता प्राप्त हो जाने पर सम्भव ही नहीं, सहज बन जाते हैं। जिन कार्यों के सम्पादित होने पर हम आश्चर्य से मुग्ध हो जाते हैं, वहां श्रद्धा और विश्वास ही साधन-सम्पन्नता के रूप में कर्त्ता को प्राप्त हुए रहते हैं।

किसी भी लक्ष्य, साध्य अथवा इष्ट को प्राप्त करने के लिए दो बातों की जरूरत पड़ती है। पहली तो यह कि हम उसे जानते हों, उसके महत्व से अवगत हों, यही नहीं, उसके महत्व और स्वरूप को जानकर हम उस ओर आकर्षित हो गये हों। क्योंकि बिना इसके उसे प्राप्त करने की अभिलाषा ही नहीं उदित होगी। दूसरी बात यह है कि जिस प्रयोजन के लिए अथवा जिस भावना की पूर्ति के लिए हम उस ओर अग्रसर हुए हों, उसे प्राप्त हो जाने का पूरा-पूरा विश्वास हो। साध्य, इष्ट अथवा लक्ष्य के सम्बन्ध में ही यह चीज नहीं होनी चाहिए, अपितु उन तक पहुँचने के साधनों के सम्बन्ध में भी यही सब बातें होनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि साध्य और साधन का निर्भ्रान्त ज्ञान तथा उसके प्रति आस्था यह दोनों दृढ़ हो जाने पर ही साधना आगे बढ़ती है। गुरु का काम इतनी साधन-सम्पन्नता प्राप्त करा देना मात्र है। श्रद्धा साधनपथ पर बढ़ने के लिए जो अमोघ शक्ति देती है, विश्वास उस शक्ति को निरन्तर गतिशील बनाये रहता है। श्रद्धा पाथेय का काम करती है और विश्वास विश्राम देता चलता है। यहाँ पाथेय से तात्पर्य उन सभी उपसाधनों से है, जिनके बल पर साधना आगे बढ़ती है और विश्राम का तात्पर्य इक्के दुक्के विश्रामालयों से नहीं है। विश्वास तो साधन पथ के अणु-अणु पर साधक के श्रम को दूर करता

चलता है।

मनुष्य के समस्त कार्यकलाप, गतिविधि तथा जीवन व्यापार को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। जानकारी प्राप्त करना तथा उसके प्रति किसी भाव की स्थापना और तदनुसार व्यवहार करना। इसे ही ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक कहा जा सकता है। दार्शनिक भाषा में इसे जीव की ज्ञातृत्व, संकल्प और कर्तृत्व शक्ति कहते हैं। यह शक्तियाँ कभी कभी अलग काम करती हुई देखी जाती हैं। किन्तु मूलतः ये एक दूसरी से सबद्ध हैं। जहाँ कोई शक्ति तीव्र हो जाती है, वहाँ उसका रूप दूसरी दोनों शक्तियों को आच्छादित कर लेता है। ज्ञान, भाव और कर्म यह तीनों भी सत् और असत् भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं। किन्तु सबमें श्रद्धा और विश्वास को समान स्थान प्राप्त है। यद्यपि असद् ज्ञान को हम ज्ञान नहीं अज्ञान मानते हैं। असद् भाव को भाव नहीं, दुर्भाव, कुभाव मानते हैं तथा असत् क्रिया को पाप। और इसी प्रकार इन्हें सम्पादित करने वाले साधनों को हम श्रद्धा और विश्वास के नाम से नहीं पुकारते। किन्तु शक्ति एक ही है, रूप एक ही है? साध्य दूषित हो जाने के कारण साधन का भी दूषित हो जाना स्वाभाविक है। तुलसीदास नारी के प्रति कामी के प्रेम और अर्थ के प्रति लोभी के प्रेम पर रीझ गए हैं। वे इसी प्रेम को चाहते हैं। किन्तु इसका उपयोग वे राम के प्रति करना चाहते हैं[१]। नारी के प्रति कामी का प्रेम गम्भीरता, गुरुता और पवित्रता में राम के प्रति होने वाले प्रेम से कम इसलिये माना जाता है क्योंकि उसका इष्ट उत्तम नहीं है। किन्तु उसका महत्त्व इतना अवश्य है कि वही राम के प्रति उन्मुख हो जाने पर दिव्य हो जाता है। भगवान का धनुष भी संहार ही करता है और रावण का धनुष भी। किन्तु राम के धनुष के प्रति हमारे हृदय में उच्च भाव है, प्रेम है, श्रद्धा है और रावण के धनुष के प्रति घृणा और द्वेष है। क्योंकि हमारी दृष्टि

१ कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभी के प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

में एक अच्छा काम करता है, दूसरा बुरा। पहला पाप का नाश करता है, दूसरा सदाचार का उच्छेद करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधन की उच्चता तो साध्य की उच्चता पर निर्भर है। साध्य की महत्ता के साथ ही साधन भी महनीय हो जाता है। जब इष्ट की छोटी-छोटी वस्तुएं अगूठी, चरणपादुका आदि भी पूज्य हो जाती हैं, तो उस तक पहुँचाने वाला साधन क्यों न साध्य तुल्य महनीय हो जाय। इसलिये एक ही भाव जब सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, की ओर उन्मुख होता है, तो उसे हम उत्तम मानते हैं। और जब वही विषयगामी हो जाता है, तो हम उसकी निन्दा करते हैं। श्रद्धा और विश्वास के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। भगवान कृष्ण ने गीता में श्रद्धा के सम्बन्ध में कहा है कि मनुष्य की भावनाओं के अनुसार उसकी विकृति और प्रकृति के अनुसार श्रद्धा के अनेक रूप होते हैं[1]। अर्थात् प्रत्येक प्राणी की श्रद्धा का रूप पृथक् पृथक् होता है। हां, उन सबका वर्गीकरण करके हम गुणों के आधार पर उसे सात्विकी, राजसी और तामसी इन रूपों में देख सकते हैं[2]। कहने का तात्पर्य यह कि श्रद्धा वह भाव है, जिससे कोई भी पथिक चाहे वह उत्तम लक्ष्य की ओर जा रहा हो, अथवा निम्न लक्ष्य की ओर, लाभ उठाता है, शक्ति प्राप्त करता है। हां, लक्ष्य के आधार पर ही उस श्रद्धा का भी मूल्यांकन होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चाहे जैसा भी कार्य हो, उसको सम्पन्न करने के लिये श्रद्धा भाव की आवश्यकता अनिवार्य है।

विष्णुपुराण में श्रद्धा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अतिसुन्दर रूपक की कल्पना की गयी है। उसमें बताया गया है कि मनु की कन्या प्रसूति

---

१ सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत, श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एव सः १७।३ गीता।

२ त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा, सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ १७,२ गीता।

और दक्ष प्रजापति ने २४ कन्याओं को जन्म दिया[1]। इनमें श्रद्धा, लक्ष्मी धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि तथा कीर्ति ये तेरह कन्याएं मुख्य हैं[2]। इन तेरहों को धर्म ने पत्नी रूप में स्वीकार किया[3]। इस रूपक से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की परम्परा को आगे बढाने में श्रद्धा का कितना हाथ है। धर्म की उक्त तेरह पत्नियों में श्रद्धा को प्रमुख स्थान प्राप्त है। सम्भवतः वह धर्म की राजमहिषी, पटरानी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ धर्म को व्यापक अर्थ में लिया गया है। आगे चलकर उसी प्रसग में यह स्पष्ट किया गया है कि धर्म का यह पूरा परिवार समार की स्थिति का कारण है। तुलसीदास ने भी तीरथ राज के वैभव का वर्णन करते हुये सत्य को जहा तीरथराज का सचिव और भगवान वेणीमाधव को उसका सखा बनाया है, वहीं श्रद्धा को साक्षात् पत्नी रूप में कहा है[4]।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रद्धा के स्वरूप का विवेचन करते हुये कहा है कि 'श्रद्धा का मूल तत्व है, दूसरे का महत्व स्वीकार करना।' इसलिये चाहे जैसी भी प्रगति हो श्रद्धा का अस्तित्व उसमें रहता ही है। यदि हम ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का अलग अलग विश्लेषण करते हुये उसमें श्रद्धा के महत्त्व का मूल्यांकन करें तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी कि कोई भी साधना श्रद्धा के बिना पल्लवित नहीं हो सकती है। श्रद्धा का सहचर विश्वास भी है। यद्यपि सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा से विश्वास की उत्पत्ति होती है अथवा विश्वास से श्रद्धा की उत्पत्ति किन्तु यह बात तो स्पष्ट ही है कि दोनों की युगपत स्थिति सर्वत्र पाई जाती है। जहाँ श्रद्धा है, वहा विश्वास है,

---

१ प्रसूत्या च तथा दक्षश्चतस्रोविंशतिस्तथा, ससर्ज कन्यास्तासा च सम्यद्-नामानि मे शृणु ॥ विष्णु० । १,७, २२ ।

२ श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिर्मेधा पुष्टिस्तथाक्रिया, बुद्धि लज्जा वपुशान्ति सिद्धि कीर्तिस्त्रयोदशी विष्णु पु० १,७, २३

३ पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणी प्रभु ॥ वि० पु० । १, ७, २४

४ सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी, माधव सरिस मीत हितकारी ॥

और जहां विश्वास है, वहां श्रद्धा है। श्रद्धा अन्धी नहीं होती है। महत्त्व का निर्भ्रान्त ज्ञान और फिर उसकी स्वकृति से ही श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भक्ति की उत्पत्ति श्रद्धा से ही होती है[1]। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से विवेचन उपस्थित किया है। इसलिये यहां मैं केवल कुछ मोटी बातों का ही दिग्दर्शन करूंगा। वस्तुतः भक्ति तो ऐसी चीज है जो श्रद्धा के बिना एक पग भी आगे नहीं बढ सकती। श्रद्धा और भक्ति का सम्बन्ध इतना अभिन्न सा प्रतीत होता है कि कुछ लोग श्रद्धा को ही भक्ति मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार की मान्यता का खण्डन शाण्डिल्य ने अपूर्व युक्तियों द्वारा कर दिया है।[2] किन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि श्रद्धा और भक्ति एक दूसरे के पूरक से लगते हैं। बिना श्रद्धा के भक्ति का अस्तित्व नहीं है। जहाँ श्रद्धा उपस्थित होती है, वहाँ वह भक्ति के लिये मार्ग प्रशस्त करती है[3]। शुक्ल जी के शब्दों में श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ श्रद्धा के द्वारा प्रेम उत्पन्न होता है, वहीं वह भक्ति की उच्चभूमि पर स्थित होता है। सामान्य

---

१ भक्ति के लिये दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे, तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए, अनेक रूपों में परिचय के लिए, उसके सान्निध्य की इच्छा करते हुये उस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रियाकलाप को अपने पूज्य प्रेमपात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। चिन्तामणि

२ नैव श्रद्धातु साधारण्यात् तस्यास्तत्वे चानवस्थानात् ॥ २४,२५

३ ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः । मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ भागवत ११, २३, २९।
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्। भागवत ११, १४, २१
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना, श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। ६, ४७।

प्रेम तो आकर्षण से उत्पन्न होता है, उसमें भक्ति के पास पहुँचने की शक्ति नहीं होती। भक्ति कितनी भी उच्चभूमि पर क्यों न पहुँच जाय, उसमें श्रद्धा का भाव सर्वदा बना रहता है। अर्थात् महात्म्य ज्ञान विस्मृत नहीं होता। जो लोग भक्ति के आवेश की तीव्रता को लक्ष्य करके उसे ज्ञानशून्य, केवल आवेग, भाव मात्र मानते हैं, उनका खडन नारद ने अपने भक्ति सूत्रों मे बडे ही विशद ढङ्ग से किया है[1]। इसमें भी यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रद्धा केवल भक्ति की उत्पत्ति में सहायक ही नहीं, उसका अग विशेष है। भक्ति के अन्दर वर्तमान अनुराग और निष्कामता श्रद्धा की देन है। क्योंकि श्रद्धा स्वार्थी नहीं होती, वह श्रद्धेय से कुछ चाहती नहीं। किन्तु भक्ति में अनन्यता का भाव विश्वास उत्पन्न करता है। बिना जाने विश्वास नहीं होता और बिना जाने और विश्वास के श्रद्धा भी नहीं होती[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के दोनों अगों, निरपेक्ष अनुराग और अनन्यता की प्रतिष्ठा श्रद्धा और विश्वास ही करते हैं।

ज्ञान और भक्ति मे कोई विशेष अन्तर नहीं है, जो अन्तर दिखलाई देता है वह स्थूल है। इसलिये जैसे भक्ति में अनन्यता और निष्कामता की पूर्ण प्रतिष्टा आवश्यक होती है, उसी प्रकार ज्ञान में भी। ज्ञान का स्वरूप केवल जानकारी, विज्ञान मात्र नहीं है। ज्ञान-पिपासु को ज्ञानार्जन मे उतना ही आनन्द मिलता है, जितना भक्त को इष्टदेव के पाद-सेवन या गुणकीर्तन मे। यदि भक्त भगवान की रूपमाधुरी मे मुग्ध होकर पागल, विह्वल हो जाता है। तो ज्ञानी भी ज्ञानसरिता मे डुबकी लगाकर अपनापन खो देता है। ऐसी स्थिति तभी हो सकती है जब उसमे अनन्यता और निष्कामता हो। इसलिए ज्ञान

१ तत्रापि न माहात्म्य ज्ञान विस्मृत्यपवाद नद् विहीनं जारणामिव। नारद भ० सूत्र २२,

२ जाने बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई, जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

मार्ग में भी इन दोनों की प्रतिष्ठा के लिये श्रद्धा और विश्वास की अनिवार्य आवश्यकता है। बिना श्रद्धा के ज्ञानप्राप्ति असम्भव है।[1]

तुलसीदास ने 'सोऽहमस्मि' ऐसी वृत्ति वाली अखंड, प्रचंड और विज्ञान मय दीपशिखा, ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करने के लिये जिस उद्योग और तत्सम्बन्धी साधनों की चर्चा की है, वह ज्ञान के स्वरूप और उसमें श्रद्धा और विश्वास के स्थान को भली भांति प्रकट करता है। जिस प्रकार यह स्वयसिद्ध बात है कि जिसके पास गाय है, उसने घास दुहने का पात्र है ही। उसी प्रकार यह भी निश्चित सा है कि श्रद्धावान व्यक्ति विश्वासी होगा ही। यदि श्रद्धा नहीं है, तो विश्वास

---

१ श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं तत्परः सयतेन्द्रियः, ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-मचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ४, ६९

२ सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई, जौं हरि कृपा हृदय बस आई।
जपतप व्रत जम नियम अपारा, जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई, भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।
नोइ निवृत्ति पात्र विश्वासा, निर्मल मन अहीर निज दासा।
परम धर्म मय पय दुहि भाई, अवटै अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब छमा जुड़ावै, धृति सम जावन देइ जमावै।
मुदिता मथै विचार मथानी, दम अधार रजु सत्य सुबानी।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता, विमल विराग सुभग सुपुनीता।
जोगअगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभा सुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाइ।
तब विज्ञान रूपिनी, बुद्धि विसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि बनाइ।
तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि।
एहि विधि लेसै दीप, तेज रासि विग्यान मय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मद दिक सलभ सब।
सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा, दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा। मानस उ० कांड।

की कोई चर्चा ही नहीं उठ सकती। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में साधना की बात कौन चलाये, साधारण जीवन-यापन भी सुखपूर्वक नहीं चल सकता। संशयात्मा का इह और परलोक दोनों नष्ट हो जाता है[1] श्रद्धा का महत्त्व इतना अधिक है कि वह यदि हो तो तदनुसार कोई प्रयत्न न होने पर भी यह समझा जाता है कि इसका भविष्य अच्छा है। उसे किसी न किसी दिन, किसी न किसी साध्य की प्राप्ति होगी ही[2]। पंतजलि ने योग की सिद्धि में श्रद्धा को प्रमुख स्थान दिया है[3]। योग के प्रमुख नव विघ्नों की चर्चा करते हुये, तृतीय विघ्न संशय को मानकर *योग मार्ग में विश्वास की महत्ता की प्रतिष्ठा भी* उन्होंने कर दी है[4]। श्रद्धा सम्बल के बिना तो किसी भी साधक का काम नहीं चल सकता। सन्तों का तो वह भूषण है। बल्कि तुलसी के शब्दों में सन्त-सभा रूपी अमराई श्रद्धा रूपी वसन्त को पाकर सार्थक होती है।

सन्त सभा चहुँ दिसि अवराई, श्रद्धारितु वसन्त सम गाई।

जब भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग की यह दशा है, तो कर्ममार्ग की चर्चा ही क्या चलाई जाय। क्योंकि कर्म मार्ग चाहे वह सकाम हो या *निष्काम, प्रत्यक्ष ही श्रद्धा और विश्वास पर टिका हुआ है।* किसी भी कर्म को सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिए दो गुर बहुत ही अमोघ माने गये हैं। पहला है उस कर्म के प्रति कर्त्ता की लगन। यह लगन,

---

१. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति, नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। गीता ४, ४०

२. अयतिः श्रद्धयोपेतोयोगाच्चलित मानसः, अप्राप्य योग संसिद्धि का गतिं कृष्ण गच्छति॥ गीता ६, ३७
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते, नहि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। गीता ६, ४०

३. श्रद्धा वीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् १, २० पातंजलि योगसूत्र

४. व्याधिस्त्यान संशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायः॥ योग सूत्र १, ३०

तत्परता तभी दृढ होती है, जब उत्साह की धारा विच्छिन्न न हो। इसलिए दूसरा गुर है, उत्साह का सदा वर्तमान रहना। यहाँ लगन की आधार-शिला श्रद्धा है और उत्साह का प्रेरक विश्वास। कर्म में तो उत्साह के अभाव म श्रद्धा भी शिथिल पड़ जाती है। लोक में यह प्रत्यक्ष ही स्पष्ट है कि जब हममें उत्साह की कमी रहती है, तो रुचि होते हुए भी, श्रद्धा रहते हुये भी हम कोई काम अच्छे ढग से नहीं कर पाते। वस्तुत यहाँ श्रद्धा एकागी रहती है। जब श्रद्धा विश्वास को पैदा कर देती है, तो वह पूर्ण मानी जाती है। गीता म अर्जुन ने कृष्ण भगवान से जिस श्रद्धावान और योगभ्रष्ट व्यक्ति की गति के सम्बन्ध मे पूछा है, तथा पातञ्जलि सूत्रों में जिस योगभ्रष्ट व्यक्ति की चर्चा की गई है, वह सब अधूरी श्रद्धा को लेकर ही आगे बढते हैं। इसीलिए विश्वास के अभाव में लटक पड़ते हैं। अनुत्साह संशय से ही उत्पन्न होता है और जहाँ संशय-बीज अकुरित हुआ, बढा, वहाँ वह श्रद्धा को भी रौंद देता है।

श्रद्धा और विश्वास के पारस्परिक सम्बन्ध पर थोड़ा विचार कर लेने पर उपर्युक्त विवेचन बहुत ही स्पष्ट हो जायगा। वस्तुत कई दृष्टियों से विश्वास, श्रद्धा की अपेक्षा ऊँचा है। प्रगाढ विश्वास ही आगे बढकर किन्हीं भावों के सम्मिश्रण से श्रद्धा का रूप धारण करता है। इसलिए श्रद्धा के आदि, मध्य और अन्त में विश्वास ओत प्रोत रहता है। विश्वास से रहित श्रद्धा शक्तिहीन और खोखली होती है। वस्तुत उस दशा में उसे श्रद्धा कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि वह निश्चल और मूक होती है। श्रद्धा का भाव यद्यपि पहले से वर्तमान रहता है, किन्तु विश्वास के सहयोग से वह रूप धारण करता है। सार्थक बनता है, तब उसे हम वास्तविक श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा विश्वास की अनुगामिनी है और विश्वास श्रद्धा के बिना छूछा सा लगता है।

सदाचार बनाम मनोवेग

'हमारा आचरण हमारे मन का आचरण है', यह सत्य विचारकों ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। इसलिए आचारशास्त्र में इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने की बात विस्तृत रूप से जोर देकर कही गई है। किन्तु यह धारणा अब तक बधी हुई थी कि मन को काबू में करके उससे बुद्धि के अनुसार काम कराया जा सकता है। अर्थात् यह माना जाता था कि बुद्धि मन से पृथक है और प्रयत्न करने पर मन पर वह शासन कर सकती है। इसलिए आचरण को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करके उसे सत् बनाने की साधना को ही विशेष महत्व दिया जाता था। कर्तव्य, धर्म, सदाचार एक ही वस्तु के विभिन्न नाम हैं। तो तात्पर्य यह निकला कि सदाचार अर्थात् धर्म की प्रतिष्ठा में विवेक अर्थात बुद्धि-प्रेरित निर्णय को ही विशेष महत्व दिया जाता था। किन्तु अब मनोविज्ञान के अध्ययन का विकास हो जाने के कारण यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि बुद्धि मन के घेरे के बाहर की वस्तु नहीं है। इसलिये आचार शास्त्र की अनेक मान्यताओं को गहरा धक्का लगा है। अनेक सिद्धान्त अब उलट पुलट गये हैं। इस परिवर्तित और परिशोधित मान्यता के प्रकाश में जब हम सदाचार की प्रतिष्ठापक शक्तियों पर विचार करते हैं तो यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि मनोवेगों का सदाचार की प्रतिष्ठा में महान योग है।

इस निबन्ध मे हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आचरण का मनोवेग के साथ कैसा सम्बन्ध है। क्या सदाचरण में मनोवेग बाधक है? सदाचार को प्रेरित करने वाली कौन कौन सी शक्तिया हैं? क्या वे शक्तियाँ मनोवेग के अभाव में भी काम कर सकती हैं? साथ ही हम

यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या बुद्धि मनोवेगों के बाहर रह कर स्वतन्त्र रूप से निर्णय दे सकती है ? क्योंकि आचार-शास्त्र में विवेक को विशेष महत्व दिया गया है। वस्तुतः मनोवेगों को नियत्रित करने के लिए विवेक नाम की चीज को ही प्रमुख स्थान प्राप्त है। और यह विवेक एक प्रकार का मनोवेग ही है। भेद केवल इतना ही है कि यह बुद्धि के द्वारा प्रकट होता है। आगे हम इस पर स्पष्ट विवेचन करेंगे। सदाचार क्या है ? मनोवेग क्या है ? यह दोनों अलग निबन्ध के विषय हैं। इसलिए इस पर प्रसगतः ही प्रकाश डाल सकेंगे, इन पर विस्तृत विवेचन यहा सम्भव नहीं है।

हमारा आचरण हमारे सम्पूर्ण मन की व्यापक और सूक्ष्म करामात से प्रतिक्षण प्रभावित रहता है। मन का यह प्रभाव कई मार्गों से पड़ता है। मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से तो हमारे कुछ आचरण अवचेतन मन से सम्बन्धित होते हैं। वहाँ तो बुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। इसलिए उसके प्रभाव को रोकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता। चेतन मन के मनोवेगों की भी दाल वहाँ नहीं गलती। इसलिए ऐसे आचरण का सम्बन्ध प्रत्यक्ष मनोवेगों से नहीं है। और भी कई ऐसे आचरण हैं,जिनका संबंध मनोवेगों से नहीं होता, जैसे सहज क्रियायें, आदतें आदि। किन्तु जीवन की स्थूल हलचल की उत्पत्ति प्रत्यक्षतः मनोवेगों द्वारा ही सम्पन्न होती है। क्रोध, लोभ, मोह, दया, घृणा, भय, चिन्ता आदि भाव तथा संवेग प्रत्यक्षतः ही हमारी मानसिक स्थिति मे परिवर्तन करते रहते हैं और परिवर्तित मानसिक स्थिति हमारे आचरण को प्रभावित करती रहती है। देशभक्ति, स्वामिभक्ति आदि का प्रभाव प्रतिक्षण की मानसिक स्थिति पर तो नहीं पड़ता, किन्तु हमारे आचरणपर इनका भी प्रभाव पड़ता ही है। इस प्रकार के स्थायी भावों का प्रभाव मनोवेगो से अधिक शक्तिशाली होता है। वस्तुतः इनसे मनोवेग नियंत्रित होते हैं।

यह ठीक है कि दया उत्पन्न होने पर हमारे मन की जैसी स्थिति

होती है, वैसी ही आपको मन की भी। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिस पर हमें दया आये, उस पर आपको भी। और न यही आवश्यक है कि दया आने पर हम जो काम करते हैं, वही आप भी करें। इस प्रकार जहाँ तक मनोवेगों का सम्बन्ध है, उसका रूप एक होते हुए भी उत्पत्ति के कारण और फल के आधार पर वह कई भागों में बाँटा जा सकता है। आचरण के दृष्टिकोण से जब हम मनोवेगों पर विचार करेंगे तो इन्हीं भेदों को ही आधार मानना होगा। शुद्ध मनोवेगों का अध्ययन तो मनोविज्ञान का विषय है। आचारशास्त्र मनोवेगों को फल और उत्पत्ति के दृष्टिकोण से ही लेता है

हमारे कुछ आचरण, क्रोध, भय आदि संवेग जनित होते हैं और कुछ चिन्ता, लोभ, दया आदि भावजनित। ऐसे भी आचरण होते हैं, जो किसी प्रकार के मनोवेग से प्रत्यक्षत सम्बन्धित नहीं होते हैं। किन्तु मुख्यत कोई भी आचरण मनोवेग के क्षेत्र से बाहर नहीं जाता। क्योंकि मनोवेग का काम ही आचरण को प्रेरित करना है। मनोवेग से हमारा तात्पर्य मनोविज्ञान की शब्दावली में कुछ सीमित मानसिक स्थिति से ही नहीं है, अपितु मन की गतिशील स्थिति के समष्टि रूप से है। कुछ आचरण सामूहिक मनोवेग से प्रभावित होते हैं। दो राष्ट्रों के बीच का सम्बन्ध उनके नागरिकों के मनोवेग पर किसी हद तक प्रभाव डालता है। दो राष्ट्र जब आपस में मैत्री भाव स्थापित करते हैं, तो उनके नागरिक भी उसी भाव से प्रभावित हो जाते हैं। फलत किसी विशेष स्थिति में दोनों राष्ट्रों के नागरिकों का एक प्रकार के मनोवेग से प्रभावित होना सभव हो जाता है। इस प्रकार का हमारा आचरण सामूहिक मनोवेग से ही प्रभावित माना जायगा। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सामूहिक मनोवेगों का प्रभाव व्यक्ति पर स्थायीभाव जैसा पड़ता है। जैसे उत्कृष्ट देशप्रेमी का प्रत्येक आचरण उसके देश प्रेम से प्रभावित होगा। उसी प्रकार हमारा प्रत्येक आचरण सामूहिक मनोवेग से कुछ न कुछ प्रभावित रहता है। इस

प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का आचरण समूह के आचरण से प्रभावित होता है। साम्प्रदायिक झगड़े तथा क्रान्ति के समय लोगों का मनोवेग इसी प्रकार का सामूहिक मनोवेग होता है।

कुछ व्यक्तियों का मनोवेग समाज की दृष्टि से निष्फल होता है। मनोवेग से प्रेरित होकर वे वैयक्तिक आचरण तो करेंगे, किन्तु सामाजिक आचरण वे नहीं कर पाते। उन्हें क्रोध या दया तो आती है, किन्तु इस भाव के अनुसार वे कार्य नहीं करते। फलतः धीरे धीरे इन भावों की उत्पत्ति भी शिथिल हो जाती है। ऐसे लोग न तो सदाचार का ही पालन करते हैं और न कोई भयङ्कर दुराचार ही इनसे बन पड़ता है। ये नितान्त वैयक्तिक आचरण करने वाले व्यक्ति असामाजिक तथा प्रभावहीन होते हैं। इसके प्रतिकूल कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने मनोवेगों के अनुसार कार्य भी करते हैं। ऐसे ही लोग उत्कृष्ट सदाचारी या दुराचारी बनते हैं। बात यह है कि मनोवेग से रहित यन्त्रवत् आचरण सामाजिक नहीं होता है। जब तक किसी आचरण के पीछे मानसिक प्रेरणा न हो, तब तक न तो वह प्रभावशाली होगा और न मूल्यवान हो। मूल्य भावों, उद्देश्यों और मनोवेगों के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। फिर एक बात और है, बिना मानसिक प्रेरणा के कोई आचरण आदर्श बन भी नहीं सकता। जो व्यक्ति क्रोधावेश में तदनुकूल आचरण नहीं करता, वह दयाभाव में भी चुप्पी ही साध लेगा। वस्तुतः मनोवेग दो प्रतिद्वन्दी भावों में बँटे हुये हैं। क्रोध और दया, लोभ और वैराग्य एक ही भाव के दो पहलू हैं। प्रत्यक्ष में क्रोध और दया हमें नितान्त पृथक् एक दूसरे के विरोधी भाव के रूप में दिखलायी देते हैं। किन्तु दोनों ही मन के एक स्थल से पैदा हुये हैं। जो क्रोधोत्पत्ति को नष्ट कर देता है। अर्थात् जो क्रोध के उत्पत्ति-स्थल को निर्मूल कर देता है, उसका मन दया-भाव की उत्पत्ति के लिए अनुपजाऊ हो जाता है। इसलिए क्रोधावेग में हम गलत आचरण कर बैठते हैं, अतएव मन से क्रोधोत्पत्ति का स्थल ही शून्य बना देने की साधना चेतना को जड़ की

ओर अग्रसर करना है। सदाचरण के लिये मनोवेगों का हनन विडम्बना मात्र है।

उस व्यक्ति को इन्द्रियजयी नहीं कहा जा सकता, जो इन्द्रिय को नष्ट करके थोथे संयम की बात करता है। यह तो केवल ऊपरी दिखावा है, जो स्वस्थ मानसिक स्थिति को नष्ट करके प्राप्त किया जाता है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल कोई बात उत्पन्न हो जाने पर हम क्रोधोद्रेक होता है। किन्तु क्रोध का भाव तभी आता है, जब हम अपनी इच्छा की पूर्ति में समर्थ होते हैं और असम्भावित रूप से उसमें कोई प्रत्यक्ष विघ्न उपस्थित हो जाता है। किन्तु जब हम शक्तिहीन होते हैं, परवशता के कारण हमारी इच्छा का हनन होता है, तो हमारे अन्दर दैन्यभाव की उत्पत्ति होती है। हमारा यह दैन्य-भाव ही दूसरे के मन में दया की उत्पत्ति का हेतु बनता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब हम अपनी इच्छा का हनन देखते हैं तो क्रोध आता है और जब हम दूसरे की इच्छा का निर्दयतापूर्वक हनन और उसमें दैन्यभाव देखते हैं तो दया आती है। इस प्रकार क्रोध, दैन्य और दया की उत्पत्ति एक ही कारण से होती है। एक ही बात से क्रोध, दया और दैन्य किसी भी भाव की उत्पत्ति सम्भव है। अर्थात् मन के जिस स्थल को वह बात स्पर्श करती है, उस स्थल से कई प्रकार के मनोवेगों के पैदा होने की सम्भावना रहती है। यदि मन के उस स्थल को निर्जीव बना दिया जाय तो इनमें से किसी भी भाव की उत्पत्ति सम्भव न होगी। इस प्रकार मन के जितने भी मर्मस्थल हैं, उनसे दो-दो, तीन-तीन भावों की उत्पत्ति होती है। इसलिए किसी एक मर्मस्थल को शुष्क बना देने का अर्थ है, उस स्थान से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भावों की उत्पत्ति को असम्भव बना देना। बुरे मनोवेग दुराचरण को प्रोत्साहन देते हैं और अच्छे मनोवेग सदाचरण को। सदाचरण की प्रतिष्ठा के लिये उन मर्मस्थलों का परिशोधन ही उपयुक्त है। मनोवेगों के उत्पत्ति केन्द्र को ही शून्य बना देने की साधना सदाचरण की प्रतिष्ठा में सहायक नहीं हो सकती। मन

को मारने की साधना वैयक्तिक है और सदाचार सामाजिक है। मन को मारकर सामाजिक जीवन बिताना कठिन है। सदाचार तो जन-समाज के बीच व्यापक रूप से अनुस्यूत रहना चाहिये। इसलिये मनोवेगों को यहाँ भुलसाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ तो मनोवेगों के ही आधार पर सदाचार की प्रेरक शक्तियों को विकसित करने की आवश्यकता होती है।

मनोवेग अनुभूति जन्य होते हैं। प्रत्येक मनोवेग किसी न किसी अनुभूति द्वारा प्रेरित होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मन में जब कोई बड़ा उथल पुथल प्रारम्भ होता है, तो उसका हम नामकरण करते हैं। चिन्ता,मोह,लोभ आदि मन के ऐसे ही विकार हैं। किन्तु जब हम प्रायः शान्त रहते हैं, किसी भी प्रकार का स्थूल मनोवेग क्रोध, शोक आदि जब नहीं होता है,तो भी अनुभूति जन्य किसी मनोवेग का रूप तो रहता ही है। इसीलिए हम मनोवेग को मन की गति-अथवा मन की चेतना का रूप मानते हैं। सोते समय गाढ़ निद्रा में मनोवेग नहीं होता है। उस समय हम कोई आचरण भी नहीं कर सकते हैं। आचरण जाग्रत अवस्था में ही सम्भव होता है,और उस समय कोई न कोई मनोवेग या उसका पूर्वरूप वर्तमान रहता है। वस्तुतः इसीलिए हमारा मन कार्यरत रहता है। किसी काम को मनोयोग पूर्वक करने का अर्थ होता है, मनोवेगों को अनुकूल बनाकर कार्य करना। यदि हमारा मनोवेग किसी दूसरी दिशा में जा रहा हो, तो उसके विपरीत हम जो कार्य करेंगे, वह त्रुटिपूर्ण होगा। इस प्रकार मनोवेगों का मुख्य कार्य है हमें क्रियाशील बनाना। हम कैसा आचरण करें, इसका सीधा सम्बन्ध मनोवेगों से नहीं है। उदाहरण के लिए, किसी अबला पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध से तिलमिला उठते हैं। यहां तक तो मनोवेग काम करता है। हम क्या करें, यह बताना मनोवेग का काम नहीं है। यहाँ तो मन की एक दूसरी क्रिया जिसे बुद्धि कहते हैं, उसका ही सहारा लिया जा सकता है। प्रायः ऐसा होता है कि तीव्र मनोवेगों की आंधी

में बुद्धि धुंधली पड़ जाती है और इस हतप्रभ बुद्धि के निर्देश पर हम जो काम करते हैं, वह प्रायः अनुचित होता है। बात यह है कि उस समय मनोवेगों का प्रभाव इतना गम्भीर एव द्रुतगामी होता है कि बुद्धि को कुछ सोचने विचारने का अवसर ही नहीं मिलता। फलतः मनोवेग की गति के साथ ही क्रिया भी सम्पन्न हो जाती है। वस्तुतः इस क्रिया में बुद्धि का प्रत्यक्ष हाथ नहीं होता, बल्कि मनोवेगों के धक्के से ही बुद्धि क्रियाशील हो उठती है और किसी क्रिया को सम्पन्न करने का उपक्रम कर देती है। इसीलिए आचारशास्त्र के कुछ विद्वानों ने मनोवेगों को ही सदाचरण में बाधक माना है। इस प्रकार का बढ़ा हुआ मनोवेग अवश्य ही सदाचरण में बाधा पहुँचाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि कोई भी मनोवेग अधिक तीव्र न हो। यह बात जैसे क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, आदि के सम्बन्ध में लागू होती है, उसी प्रकार दया, दाक्षिण्यादि के सम्बन्ध में भी। क्योंकि यदि यह भी तीव्र हो जायँ, तो मन की विवेक-शक्ति मारी जायगी। और वैसी दशा में जो आचरण होगा, वह ठीक नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह कि सदाचरण के लिए मनोवेगों का नियमन पक्षपात पूर्ण नहीं होना चाहिये। क्योंकि कोई भी मनोवेग अपने में खराब नहीं है। अत्याचारी के प्रति क्रोध, गुणों के प्रति लोभ, लोकहित की चिन्ता आदि मनोवेग किस दया, दाक्षिण्यादि से कम हैं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह निकला कि मनोवेगों का नितान्त दमन उचित नहीं है, क्योंकि इससे हमारा क्रियाशील जीवन ही खतरे में पड़जाता है। दूसरी बात यह है कि कोई भी मनोवेग मूलतः अच्छा या बुरा नहीं होता है। जो भी मनोवेग सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, वही गलत काम का कारण बन बैठता है। इसलिये सदाचरण के लिये मनोवेगों के हनन की नहीं, नियमन की आवश्यकता है, सो भी बिना भेद भाव के। अर्थात् क्रोध का नियमन किया जाय और दया को बढ़ाया जाय, ऐसी बात नहीं होनी चाहिये।

कुछ लोगों को आततायी को दड देने में भी दया आ जाती है। ऐसी दया सदाचरण के मार्ग में बाधक है। जब हम मनोवेगों का नियमन कर लेते हैं, तब भी बुद्धि उनके प्रभाव से मुक्त नहीं होती। किन्तु यह प्रभाव बुद्धि को पगु नहीं बनाता, बल्कि उसे निर्णय देने के लिये और सक्षम बना देता है। यह तो हुई मनोवेगों के स्वरूप की बात। इसके दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। वह पहलू है मनोवेगों की उत्पत्ति। मनोवेगों की उत्पत्ति में जो तत्त्व उद्दीपन का कार्य करते हैं, उन्हें भी नियन्त्रित करने की आवश्यकता है।

यह तो निश्चित ही है कि हमारा मन पहले से ही ऐसा नहीं बना होता है, कि वह अमुक प्रसंग पर क्रोधाविष्ट हो जाय और अमुक प्रसग पर घृणा से भर जाय। वस्तुत यह तो मन पर पडने वाले सस्कार एव अभ्यास से ही होता है। जिस घटना पर एक देश की जनता उत्तेजित हो जाती है, उसी घटना पर दूसरे देश के लोग प्रसन्नता से उछल पडते हैं। ठीक इसी प्रकार हमारे और आपके क्रोधादि का कारण एक ही घटना नहीं होती है। यह तो बहुत मोटी बात है। यदि सूक्ष्म पर्यावलोचन किया जाय तो ऊपर से बहुत समानता रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के मनोवेग में अन्तर होता है। एक ही घटना से एक ही प्रकार का मनोवेग हम सब के हृदय में उदय हो, तो भी मात्रा में सबका मनोवेग पृथक-पृथक होगा, इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे मन पर जैसा सस्कार पडता है, जिस शिक्षा, वातावरण या वायुमण्डल में हम विकसित होते हैं, तदनुकूल ही हमारे मनोवेग उदय होते हैं। अमुक स्थान पर हमें क्रोध करना चाहिए और अमुक पर नहीं, इस प्रकार का ज्ञान मनोवेग की उत्पत्ति को नहीं रोक सकता। हमरा 'स्व' और उसका हित जिस सीमा तक विकसित और सकुचित रहेगा, वहीं तक हमारे मनोवेग भी जायगे। इसलिए बुद्धि द्वारा मनोवेगों को नहा रोका जा सकता या उनके उद्दीपनों में सशोधन नहीं किया जा सकता।

शासन या प्रलोभन द्वारा किसी काम को करने से रोका जा

सकता है, या किसी काम को करने की आज्ञा दी जा सकती है किन्तु इस प्रकार का आचरण सदाचार की कोटि में नहीं आ सकता। जब तक हम उन्मुक्त हृदय से मनोयोग पूर्वक किसी अच्छे काम को नहीं करेंगे, बन्धन मानकर परवशतावश करेंगे, तब तक वह सदाचार की कोटि में नहीं आ सकता। वेतन लेकर प्याऊ पर पानी पिलाने वाला व्यक्ति धर्मात्मा कहलाने के योग्य नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि आचरण का मूल्य, उसमें निहित भावना के आधार पर होता है। इस लिये सदाचरण के लिए शासन की नहीं, शिक्षा की, प्रलोभन की नहीं, संस्कार की आवश्यकता है। यही कारण है कि सदाचार का विकास वातावरण के साथ होता है। ऊपर हम यह कह चुके हैं कि सदाचार की प्रतिष्ठा समाज में समाज के लिये होती है, अकेले व्यक्ति के लिए सदाचार का कोई मूल्य नहीं है। इस प्रकार फलितार्थ यह निकला कि मनोवेगों को सदाचार का पोषक बनाने के लिए मन को सुधारने की जरूरत है। जिससे मनोवेगों का उद्दीपक तत्त्व सुधर जाय। ठीक मौके पर ठीक मनोवेग उदय हों, इसके लिये व्यक्ति को तो साधना करनी ही पड़त है, समाज को भी इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। अकेला व्यक्ति सदाचार की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता।

मनोवेग और बुद्धि के सम्बन्ध पर थोड़ा संकेत किया जा चुका है। यहा यह समझ लेना आवश्यक है कि सदाचार की प्रतिष्ठा में मनोवेगों से पृथक बुद्धि का कोई मूल्य नहीं है। बुद्धि तो मन की एक ऐसी शक्ति है जिसे वह जिस दिशा में चाहे उस दिशा में प्रयुक्त करे। बुद्धि के द्वारा अनाचार की योजना बनाई जा सकती है और सदाचार की भी। मनोवेगों की दिशा जिस ओर रहेगी, उस ओर ही बुद्धि भी काम करेगी। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि बुद्धि बिलकुल मौन रहती है। किसी को गिरते देखकर हम तुरन्त दौड़ कर उठा लेते हैं। आग लगी देखकर हम दौड़कर बुझाने लगते हैं। अपनी बड़ाई सुनकर सिर नीचे कर लेते हैं। इन सब कार्यों का निर्णय तर्क वितर्क के बाद नहीं होता, बल्कि

तुरन्त अन्त करण द्वारा उद्बुद्ध होता है। यदि कोई इन सब कार्यों में तर्क वितर्क के पश्चात् प्रवृत्त होता है, तो उसे सदाचारी नहीं कहा जा सकता। वह स्वार्थबुद्धि से इस ओर लगा है, ऐसा मानना चाहिये। और सदाचार स्वार्थ प्रेरित नहीं होता। सदाचार की प्रेरणा अन्त:करण से होती है और अन्त.करण मनोवेगों द्वारा प्रेरित होता है। इस सम्बन्ध मे डा० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि :—

"अन्तःप्रेरणा का वही स्वरूप है, जो कर्तव्य शब्द में तव्य प्रत्यय से व्यक्त होता है। इसमें यह भाव नहीं होता कि लोग ऐसा करते हैं, यह भाव भी नहीं होता कि ऐसा करने से अमुक अमुक लाभ होगा। उसका तो रूप होता है, करना चाहिये वरन् यह कहना ठीक होगा कि उसका तो रूप होता है। 'करो।' कोई तर्क नहीं, हेतु नहीं, बस जैसे भीतर से कोई अकुश लगा रहा हो कि बस, इस मार्ग पर चलो।"

तात्पर्य यह निकला कि सदाचार की प्रतिष्ठा मे बुद्धि नहीं, मनोवेग की ही शक्ति काम करती है और मनोवेगों को सदाचार-प्रेरक बनाने के लिये बुद्धि नहीं, पूरे मन को ऊँचा उठाने की जरूरत है। मन केवल वैयक्तिक साधना से ऊपर नहीं उठाया जा सकता। जब तक कि उसके ऊपर पड़ने वाले सस्कार एव वातावरण स्वय ऊँचे न उठे हुये हों। कहने का तात्पर्य यह कि सदाचार की मुख्य प्रेरक शक्तिया समाज में रहती हैं। समाज की ये शक्तिया जब मूक हो जाती हैं तो व्यक्ति पर भी इसका प्रभाव पडता है और दुराचरण की मात्रा बढ जाती है। जब ये शक्तिया सजग रहती हैं तो समाज का प्रत्येक व्यक्ति सदाचरण की ओर उन्मुख रहता है। लोक में जब हम किसी व्यक्ति के द्वारा सदाचरण की प्रतिष्ठा देखते हैं तो उसका कारण ये सामाजिक शक्तिया ही होती हैं। सदाचार की प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति समाज की इन शक्तियों को उद्बुद्ध करता है। उन्हे ऊपर उठाता है फलतः पूरा समाज सदाचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

नैतिक जीवन का प्रभाव क्षेत्र

निरुद्देश्य जीवन कोई जीवन नहीं है। ऐसा जीवन तो पशु का जीवन है। इसीलिये युगों से मानव मस्तिष्क इस प्रश्न पर विचार करता चला आ रहा है कि मानव जीवन का लक्ष्य अथवा साध्य क्या है? इस चिरन्तन प्रश्न पर विश्व के अनेक विचारकों ने समय समय पर अपने विचार, अनुभूति और सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। विचारकों में बहुत मतभेद है। प्राय. अनेक विचारक कुछ न कुछ नई बात कहता है। मानव मस्तिष्क इस प्रश्न पर अभी तक सर्वसम्मत निश्चय नहीं कर पाया है, किन्तु विचारकों की इस विषमता के बावजूद भी एक बात में सभी एकमत हैं, 'जीवन का लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो, किन्तु जीवन का स्वरूप तो अनिश्चित स्थिति में नहीं रह सकता।' इसलिये जीवन के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी विचारक एक मत हैं। इसका मूल रूप सभी की दृष्टि में एक है और वह है, नैतिक जीवन। नैतिक जीवन, पवित्र और प्रेरणा दायक जीवन ही अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता है। इस सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। नैतिकता क्या है? उसका मापदण्ड क्या है? इस सम्बन्ध में सामान्य विचार-भेद है, किन्तु मूल में कोई भी मतभेद नहीं है। यही कारण है कि नैतिक गुणों की सामान्य स्वीकृति सभी समाज, देश और काल में प्राप्त है। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, परोपकार आदि नैतिक गुणों की आवश्यक्ता अनादि और अनन्त है।

दार्शनिक दृष्टि से हम जीवन के पारमार्थिक तत्त्व के सम्बन्ध में चाहे जो विचार रखते हों, उनसे यदि हमारे नैतिक जीवन की पुष्टि नहीं होती, अर्थात् यदि वे विचार हमारे वर्तमान जीवन को ऊँचा उठाने में सहयोग नहीं करते हैं, तो उन विचारों का कोई मूल्य नहीं है। दार्शनिक तत्त्व विवेचन की मूल समस्या का विश्लेषण ही नहीं करना

चाहिये, अपितु उस विश्लेषण से जीवन को वह रूप मिलना चाहिये, जिसे हम नैतिक जीवन कहते हैं। इस प्रकार मनीषियों के जीवन सबधी विचार, सिद्धान्त और मान्यताएं व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर ही कसी जा सकती हैं। योगी, साधक, अथवा आप्त पुरुष धर्मशास्त्र या तर्क के पीछे नहीं चलते हैं। उनकी जीवन-यात्रा स्वय निष्कलुष रूप से वास्तविक पथ का अनुसरण करती रहती है। क्योंकि नैतिक जीवन स्वत प्रमाण है। एक विचारक का कहना है कि 'योगी धर्मशास्त्र के पीछे नहीं चलता है, बल्कि धर्मशास्त्र योगी के वचनों की निरुक्ति करता है।' कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक-जीवन अपना आदर्श आप है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि नैतिकता क्या है ? तथा नैतिक जीवन बुद्धि प्रेरित है या हृदय। यद्यपि अनेक विचारकों ने नैतिकता की परिभाषा को बहुत जटिल बना दिया है, किन्तु हम इस जटिलता की ओर नहीं जाएँगे। भारतीय विचारकों ने इसका बहुत ही स्पष्ट उत्तर दिया है। राग और द्वेष से रहित शुद्ध आत्मा की प्रेरणा से जो जीवन संचालित होता है, वह नैतिक जीवन है। अह के घेरे से बाहर होकर हम जो भी कार्य करते हैं, वह नैतिक कार्य है। बात यह है कि दोष अह में ही है। जब हम किसी कार्य को राग द्वेष से युक्त होकर सकुचित दायरे में रहकर करते हैं, तो उसकी पवित्रता की गारन्टी नहीं की जा सकती। हमारे अह का स्वार्थ बहुत सकुचित है। इसलिये समझौते या परस्पर लाभ अथवा भय आदि की प्रेरणा से हम जो कार्य करते हैं, उसे वास्तव मे नैतिक कार्य नही कहा जा सकता। नैतिक कार्य की प्रेरणा सीधे आत्मा से मिलती है। जब आत्मा से नैतिक प्रेरणा जाग्रत होती है, तो अह की सीमा भी टूट जाती है, उस समय अह का दायरा इतना बढ जाता है, जिसके बाहर कोई वस्तु नहीं पडती। फिर तो उसका राग द्वेष भी विश्व मे लीन होकर शुद्ध और व्यापक हो जाता है, जो नैतिक जीवन की व्याख्या करती है। साथ ही हृदय भी इतना विशाल हो जाता है कि प्राणिमात्र क्या, ससार का अणु अणु

अपना अग प्रतिभासित होने लगता है, ऐसा दशा में किसी भी अग पर आघात हमारे लिए असह्य हो जाता है। इस प्रकार की भावना से प्रेरित हुआ कार्य ही नैतिक कार्य है। पानी म डूबते हुए को बचाने के लिये जब कोई व्यक्ति अथाह जलधारा में कूद कर जीवन की बाजी लगा देता है, तो वहाँ इसी प्रकार की भावना उसे प्रेरित करती है। यद्यपि यह उस भावना का क्षणिक उद्रेक ही है। वस्तुत जब इस प्रकार की भावना सुदृढ एव स्थायी रूप से हृदय में निवास करने लगती है तो नैतिक-जीवन का उदय होता है। बहुत से लोग इसी भावना को प्रेम की सज्ञा देते हैं। महात्मा गाधी की मान्यता है कि मनुष्य को अपनी ओर खींचने वाला अगर जगत् म कोई असली चुम्बक है, तो वह केवल प्रेम है। गाधी जी की कर्तव्य की कसौटी थी कि इससे प्रेम का विस्तार होता है या नहीं। जिसके द्वारा प्रेम का पोषण नहीं होता, वह नैतिक कर्म नहीं है। इस प्रकार प्रेम का विस्तार अह के विस्तार में ही है। जब हम प्राणिमात्र के जीवन को अपना जीवन समझने लगते हैं तो फिर राग-द्वेष के लिए स्थान ही नहीं बचता। अहिंसा परमो धर्म का पावन उद्घोष इसी विस्तृत अह की पुकार है। जब सारा विश्व ही अह में समा जाता है तो फिर किसकी कौन हिंसा करे। इस प्रकार जितने भी सदाचार के द्वारा अभिहित कार्य माने जाते हैं, सभी इसी भूमि पर पल्लवित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक गुणों का सम्बन्ध शरीर तथा इन्द्रियों के कार्यकलाप से नहीं होता। उसकी भूमि आत्मा है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक जीवन या नैतिकता की आवश्यकता क्यों है? उसका क्या मूल्य है। इसके उत्तर के लिये हमें ससार के इस पहलू पर विचार करना होगा, जिसे दु खमय कहा गया है या जिस ससार से उपरत रहने की बात बडे बडे विचारक कहते हैं। इसम तो कोई सन्देह नहीं है कि ससार के सभी विचारक ससार के वर्तमान स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं है। सभी विचारकों ने

एक स्वर से संसार के वर्तमान रूप को निकृष्ट एवं त्याज्य बताया है। उनका मत है कि इस संसार में अनाचार, पापाचार, स्वार्थ तथा नाना प्रकार की व्याधियों और संघर्षों के कारण वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिये यदि शान्ति अभीष्ट है, तो इस संसार का कायापलट करना होगा। अतएव एक ऐसे संसार का निर्माण करना होगा, जहाँ स्वार्थ नहीं, संघर्ष नहीं, पापाचार और अनाचार नहीं। अतएव सुख और शान्ति का साम्राज्य है। नैतिकता ऐसे संसार का निर्माण करती है। गाधी जी ने इस संसार का नाम 'रामराज्य' रखा है और दूसरे विचारक भी अपने प्रिय नामों से इसे पुकारते हैं, कोई स्वर्ग और कोई वर्ग-विहीन समाज की कल्पना करते हैं। नैतिक जीवन ऐसे संसार की नींव डालता है। यद्यपि साधारण लोग ऐसे संसार को नहीं देख पाते, वे इसे कल्पना ही समझते हैं, किन्तु योगी, साधक तथा नैतिक जीवन से सम्पन्न महापुरुष ऐसे संसार में ही विचरण करते हैं। हमारे और आपके बीच रहते हुए भी वे हमारे और आपके संसार से दूर, अपने संसार में रहते हैं और वहीं सबको ले जाना चाहते हैं। कबीरदास कहते हैं।

'हम सब माँहि सकल हम मोंही,
हम थे और दूसरा नाहीं।'

इसीलिये ऐसे सन्तों का जीवन शान्त, गम्भीर और शक्ति-सम्पन्न होता है। इस प्रकार का जीवन ही नैतिक जीवन है।

नैतिक जीवन उस व्यक्ति के लिये ही अमृत नहीं होता, अपितु समाज भी उनसे अनुप्राणित होता है। नैतिक जीवन जब किसी व्यक्ति में मूर्तमान हो जाता है, तो उसके तेज से समीप का वातावरण भी प्रभावित हो जाता है। इस प्रकार का प्रभाव तो प्रायःतामस और राजस गुणों में भी होता है। फिर सात्विक गुण सम्पन्न नैतिकता तो स्वयं में एक ऐसी शक्ति है, जो सूर्य की तरह सभी आवरणों को छिन्न-भिन्न कर तम को नष्ट कर देती है। समाज में हम अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में

पहुंचते हैं। सभों के समीप जाने पर हमें उनमें एक ऐसे व्यक्तित्त्व की झांकी मिलती है, जो एक दूसरे से अलग रहती है। और किसी में ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व मिलता है, जिस पर हम अनजाने ही मुग्ध हो जाते हैं। यह व्यक्तित्व यद्यपि उसके समष्टि जीवन का प्रतीक होता है। किन्तु सामान्यतः उस व्यक्तित्व का मूलाधार उसका गुण ही होता है। वे गुण व्यक्ति के स्वभाव, व्यवहार आदि में ओत-प्रोत रहते हैं। हम इस प्रकार के व्यक्तित्त्व को देखते और परखते भी हैं। और जाने-अनजाने उससे प्रभावित भी होते रहते हैं और कभी कभी एका-एक किसी विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख श्रद्धा से झुक जाते हैं। यह दोनों ही प्रकार का प्रभाव स्थायी होता है। वस्तुतः प्रभावोत्पादक शक्ति दोनों में समय के दृष्टिकोण से नहीं आँकी जा सकती। यह तो इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति के गुण किस कोटि तक शक्तिशाली हैं। स्वामी विवेकानन्द ने स्वल्प काल में ही अमेरिका वासियों को इस तरह अपने गुणों से मुग्ध कर लिया कि आज भी उनका प्रभाव ज्यों का त्यों बना हुआ है। भारत और अमेरिका दोनों ही विवेकानन्द को भूल नहीं सकते। कहने का तात्पर्य यह कि व्यक्ति में स्थित नैतिकता का प्रकाश उसे तो प्रकाशित करता ही है, समाज पर भी वह प्रकाश डालता है। समाज पर पड़ने वाला उसका यह प्रकाश व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रकाश से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। क्योंकि नैतिकता की परम्परा समाज पर पड़े हुये प्रकाश से ही आगे बढ़ती है। यदि किसी व्यक्ति के नैतिक-गुण उसी तक सीमित रहते हैं, किसी कारणवश समाज पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, तो उसकी परम्परा आगे नहीं बढ़ सकती। इस प्रकार की नैतिकता वन्ध्या है और इस प्रकार का नैतिक जीवन महत्त्वहीन है।

एक बात और है, नैतिक जीवन-सम्पन्न व्यक्ति जान बूझकर समाज को प्रभावित करना चाहे, तभी उससे समाज लाभान्वित हो सकता है, ऐसी बात नहीं है। वह इस दृष्टि से निरपेक्ष रह कर भी यदि समाज

में रहता है, सामाजिक जीवन व्यतीत करता है तो समाज उसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। वह मूकभाव से ही समाज को अनुप्राणित करता रहता है। महात्मा गांधी जी कहा करते थे कि 'यदि कोई हमारे सामने झूठ बोलता है तो हमें अपने ही ऊपर गुस्सा आता है। क्योंकि हम झूठे हैं, इसलिये हमारे सामने दूसरा भी झूठ बोलता है। यदि हम वस्तुतः सत्य का पालन करते हैं तो हमारे सामने कोई झूठ नहीं बोल सकता।' अहिंसा के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि भी इसी प्रकार की बात कहते हैं...'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः : २। ३५।' गोस्वामी तुलसीदास वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन करते हुये कहते हैं।

'खग मृगविपुल कोलाहल करहीं,
विरहित बैर मुदित मन चरहीं।'

और महर्षि वाल्मीकि अगस्त्य आश्रम का वर्णन करते हुये कहते हैं: —

यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा,
तदा प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः। ८३:
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः,
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान विनीत मृग सेवितः।८६।
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः,
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः।६०।

—वनकाण्ड सर्ग ११

कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक गुण बिना किसी प्रयत्न के वातावरण को प्रभावित करते हैं। नैतिक गुणों के इस आश्चर्यजनक प्रभाव का रहस्य क्या है? इस पर विचार करने के लिए हमें नैतिक गुणों के आधार की खोज करनी होगी। वस्तुतः मानव-जीवन के बहुत सारे गुण केवल अधिष्ठान (शरीर मन तथा इन्द्रिय आदि) से सम्बन्ध

रखते हैं। इनका प्रभाव वातावरण पर उस प्रकार नहीं पड़ता, जिस प्रकार नैतिक गुणों का। क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में जो भेद है, उसका कारण यह अधिष्ठान ही है। अर्थात् अधिष्ठान ऊपर से समान ज्ञात होते हुये भी मूलतः एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। अधिष्ठान की यही विभिन्नता व्यक्तित्व की विभिन्नता का आधार है। किन्तु इन विभिन्न अधिष्ठानों में अधिष्ठित तत्त्व एक ही है। अधिष्ठान के आवरण ने एक ही तत्त्व को विभिन्न नाम रूप का बना दिया है। नैतिक गुण उस तत्त्व से सीधे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये किसी एक व्यक्तित्व में उदय हुए वे नैतिक गुण दूसरे अधिष्ठान में स्थित आत्म तत्त्व को सीधे प्रभावित करते हैं। इसमें किसी ओर से कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। सबसे मजे की बात तो यह है कि यदि हम किसी सन्त से रुष्ट भी रहते हैं, उसका विरोध भी करते रहते हैं, तो भी हम उसके प्रभाव से मुक्त नहीं होते। शास्त्र या विचारक सत्संगति को जो इतना शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उसका यही रहस्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी बात को इस प्रकार कहते हैं।

मुद मंगलमय सन्त समाजू,
जो जग जंगम तीरथराजू।
राम भक्ति तहँ सुरसरि धारा,
सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।
विधि निषेधमय कलिमल हरनी,
राम कथा रविनन्दिनि बरनी।
हरिहर कथा विराजति बेनी,
सुनत सकल मुद मंगल देनी।
बटु विश्वास अचल निज धर्मा,
तीरथराज समाज सुकरमा।
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा,
सेवत सादर समन कलेसा।

अकथ अलौकिक तीरथ राऊ,
देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ ।
सुनि समुझहि जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग ॥
मज्जन फल पेखिअ ततकाला,
काक होहिं पिक बकहुँ मराला ।
सुनि आचरज करे जनि कोई,
सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक गुणों का प्रभाव अमोघ है। लेकिन यह प्रश्न अब भी ज्यों का त्यों रह जाता है कि आखिर इन नैतिक गुणों की उपयोगिता क्या है ? 'सन्त' दूसरों पर अपना प्रभाव तुरन्त डालते हैं, इससे तो सन्तों की या उनमें स्थित नैतिक गुणों की उपयोगिता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता ।

नैतिक गुणों की उपयोगिता इस अर्थ में है कि वे मानव-जीवन के चरम-लक्ष्य की ओर जीवन को उन्मुख करते हैं। वे मानवता के मूल स्तम्भ हैं तथा हमारी विविध प्रवृत्तियों के नियामक तथा पोषक हैं। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हमें मानव-जीवन की समस्त वासनाओं, इच्छाओं आदि की प्रेरक मूल वासना पर ध्यान देना होगा। नैतिक गुण मानव की उस मूल वासना को शुद्ध और परिष्कृत कर जीवन को सार्थक बना देते हैं। फलतः व्यक्ति, पूर्ण तृप्त होकर जीवन के चरम-लक्ष्य की ओर सुगमता से बढ़ जाता है। जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में मतभेद रखते हुये भी नैतिक गुणों की इस उपयोगिता पर सभी एकमत हैं। यही कारण है कि नैतिक गुणों की स्वीकृति निर्विवाद रूप में सभी देते हैं।

मानव जीवन की मूल वासना है, 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' इसी के फलस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियां उदय होती हैं। किन्तु 'मेरे सामने दूसरा कोई नहीं' की वासना प्रतिक्षण जोर पकड़ती

रहती है। मनुष्य की और सभी वासनाएँ इसके बाद की चीज हैं। धन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता। यह वासना मानव में ही नहीं, प्राणिमात्र में पाई जाती है। मात्स्य-न्याय इसी वासना की पुष्टि करता है। कहने का तात्पर्य यह कि सारा संसार अहमेव, अहमेव की ध्वनि से सर्वदा चीत्कार करता रहता है। मनुष्य तो इसके लिए बड़ा संगठित प्रयत्न करता है। राष्ट्र, सम्प्रदाय, वर्ग और सङ्गठनों के द्वारा यह सामूहिक रूप से अपनी इस वासना की पूर्ति करने का असफल प्रयास करता रहता है। किन्तु उसे इन सबमें अपनी वासना की तृप्ति नहीं मिलती, बल्कि वह और उग्रतर से उग्रतम होती जाती है। नैतिक जीवन इसकी पूर्ति करता है। *क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति के 'स्व' का दायरा बढ़ जाता है।*

इस प्रकार नैतिक जीवन का प्रभाव क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। आवश्यकता है, समाज में ऐसे जीवन को प्रतिष्ठित करने की।

—इति—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
—गीता १३ । १४

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
—कुलार्णव तन्त्र १ । ११०

राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर ।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥
—तुलसी